साधना पथ

साधना - पथ

आचार्य श्री रजनीश

मूल्य : रु. २=५०

आचार्यश्री के सान्निध्य और सत्संग के लिये राणकपुर, राजस्थान के निकट श्री मुछाला महावीर के एकांत में ४ जून १९६४ से ८ जून १९६४ तक एक साधना शिबिर आयोजित किया गया था, जिसमें उन्होंने ये विचार प्रकट किये थे, इस अपने प्रकार के प्रथम शिबिर के संयोजक थे उदय-पुर के श्री हीरालालजी कोठारी। उन्हा के सौजन्य से यह अमूल्य संकलन हमें उपलब्ध हुआ है, और उस हम आप तक पहुँचा रहे हैं।

सत्य की साधना के लियें चित्त की भूमि वैसे ही तैयार करनी होती है, जैसे फूलों को बोने के लिये पहले भूमि को तैयार किया जाता है.

"मैं मनुष्य को एक घने अंधकार में देख रहा हूँ । जैसे अंधेरी रात में किसी घर का दिया बुझ जावे, ऐसा ही आज मनुष्य हो गया है । उसके भीतर कुछ बुझ गया है ।

पर, जो बुझ गया है, उसे प्रज्वलित किया जा सकता है ।

और, मैं मनुष्य को दिशाहीन हुआ देख रहा हूँ । जैसे कोई नाव अनंत सागर में राह भूल जाती है, ऐसा ही आज मनुष्य हो गया है । वह भूल गया है कि उसे कहाँ जाना है और क्या होना है ?

पर, जो विस्मृत हो गया है, उसकी स्मृति को उसमें पुनः जगाया जा सकता है ।

इसलिये, अंधकार है, पर आलोक के प्रति निराश होने का कोई कारण नहीं है । वस्तुतः अंधकार जितना घना होता है, प्रभात उतना ही निकट आ जाता है ।

मैं देख रहां हूँ कि सारे जगत में एक अध्यात्मिक पुनरुत्थान निकट है और एक नये मनुष्य का जन्म होने के करीब है । हम उसकी ही प्रसव-पीडा से गुजर रहे हैं ।

पर, यह पुनरुत्थान हम सबके सहयोग की अपेक्षा में हैं । वह हम से ही आने को है, और इसलिये हम केवल दर्शक ही नहीं हो सकते हैं । उसके लिये हम सब को अपने में राह देनी है ।

हम सब अपने आपको आलोक से भरें तो ही वह प्रभात निकट आ सकता है । उसकी संभावना को वास्तविकता में परिणत करना हमारे हाथों में है ।

हम सब भविष्य के उस भवन की ईंटें हैं । और, हम ही हैं वे किरणें जिनसे उस भविष्य क सूरज का जन्म होगा । हम दर्शक नहीं, सृष्टा हैं ।

और, इसलिये वह भविष्य का ही निर्माण नहीं, वर्तमान का ही निर्माण है। वह हमारा ही निर्माण है। मनुष्य स्वयं का ही सृजन करके मनुष्यता का सृजन करता है।

व्यक्ति ही समष्टि की इकाई है। उसके द्वारा ही विकास है और क्रांति है।

वह इकाई आप हैं।

इसलिये, मैं आपको पुकारना चाहता हूँ। मैं आपको निद्रा से जगाना चाहता हूँ।

क्या आप नहीं देख रहे हैं कि आपका जीवन एक बिल्कुल बेमानी, निरर्थक और ऊब देनेवाली घटना हो गया है ? जीवन ने सारा अर्थ और अभिप्राय खो दिया है। यह स्वाभाविक ही है। मनुष्य के भीतर प्रकाश न हो तो उसके जीवन में अर्थ नहीं हो सकता है।

मनुष्य के अंतस् में ज्योति न हो, तो जीवन में आनंद नहीं हो सकता है।

हमें जो आज व्यर्थ बोझ मालूम हो रहा हैं, उसका कारण यह नहीं है कि जीवन ही स्वयं में व्यर्थ है। जीवन तो अनन्त सार्थकता है, पर हम उस सार्थकता और कृतार्थता तक जाने का मार्ग भूल गये हैं। वस्तुतः हम केवल जी रहे हैं, और जीवन से हमारा कोई संबंध नहीं है। यह जीवन नहीं है। यह केवल मृत्यु की प्रतीक्षा है।

और, निश्चय ही मृत्यु की प्रतीक्षा केवल एक ऊब ही हो सकती है। वह आनन्द कैसे हो सकती है ?

मैं आपसे यही कहने को आया हूँ कि इस दुःखस्वप्न से बाहर होने का मार्ग है, जिसे कि आपने भूल से जीवन समझ रखा है।

वह मार्ग सदा से है। अंधकार से आलोक में ले जानेवाला मार्ग शाश्वत है।

वह तो है, पर हम उससे विमुख हो गये हैं । मैं आपको उसके सन्मुख करना चाहता हूँ ।

वह मार्ग ही धर्म है । वह मनुष्य के भीतर दिया जलाने का उपाय है । वह मनुष्य की दिशाहीन नौका को दिशा देना है ।

महावीर ने कहा है :

जरामरण वेगेणं, बुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ।।

'संसार के जरा और मरण के वेगवाले प्रवाह में बहते हुये जीवों के लिये धर्म ही एकमात्र द्वीप है, प्रतिष्ठा है, गति है और शरण है ।'

क्या आप उस प्रकाश के लिये प्यासे हैं, जो जीवन को आनंद से भर देता है ? और, क्या आप उस सत्य के लिये अभीप्सु हैं, जो अमृत से संयुक्त कर देता है ?

मैं तब आपको आमंत्रित करता हूँ । आलोक के लिये और आनंद के लिये और अमृत के लिये मेरे आमन्त्रण को स्वीकार करें —— केवल आँख ही खोलने की बात है, और आप एक नये आलोक के लोक के सदस्य हो जाते हैं ।

और कुछ नहीं करना है, केवल आँख ही खोलनी है । और कुछ नहीं करना है, केवल जागना है और देखना है ।

मनुष्य के भीतर वस्तुतः कुछ बुझता नहीं है———और न ही दिशा ही खो सकती है । वह आँख बंद किये हो तो अंधकार हो जाता है और सब दिशायें खो जाती हैं । आँख बंद होने से वह सर्वहारा है और आँख खुलते ही सम्राट हो जाता है ।

मैं आपको सर्वहारा होने के स्वप्न से, सम्राट होने की जाग्रति के लिये बुलाता हूँ । मैं आपकी पराजय को विजय में परिणत करना चाहता हूँ, और आपके अंधकार को आलोक में, और आपकी मृत्यु को अमृत में ———लेकिन क्या आप भी मेरे साथ इस यात्रा पर चलने को राजी हैं ? "

शिबिर उद्घाटन

३ जून १९६४

साधना—पथ

चिदात्मन्,

सबसे पहले मेरा प्रेम स्वीकार करें । इस पर्वतीय निर्जन में, मैं उससे ही आपका स्वागत कर सकता हूँ । यूँ इसके अतिरिक्त मेरे पास देने को कुछ है भी नहीं ।

प्रभु के सान्निध्य ने जिस अनंत प्रेम को मेरे भीतर जन्म दिया है..... उसे बाँटना चाहता हूँ, उसे उलीचना चाहता हूँ......और, आश्चर्य तो यही है कि जितना उसे बाँटता हूँ वह उतना ही बढता जाता है ।

शायद, **वास्तविक संपत्ति वही है, जो बाँटने से बढती है ...... जो बाँटने से कम हो, वह संपत्ति वास्तविक नहीं है ।**

क्या आप मेरे इस प्रेम को स्वीकार करेंगे ?

आपकी आँखों में मैं स्वीकृति देख रहा हूँ......और वे भी प्रत्युत्तर में प्रेम से भर आई हैं । प्रेम प्रेम को जगाता है... घृणा घृणा को जगा देती है । **हम जो देते हैं, वही हम पर वापिस लौट आता है । यही शाश्वत नियम है ।**

इसलिये, जो चाहते हों कि आपको मिले...... वही जगत् को देना आवश्यक है । काँटे देकर कोई फूल वापसी में नहीं पा सकता है ।

मै आपकी आँखों में खिले शान्ति और प्रेम के फूल देख रहा हूँ । इससे बहुत अनुगृहीत हुआ...... यहाँ अब हम अनेक नहीं हैं...... प्रेम जोड देता है और अनेक को एक कर देता है । शरीर तो भिन्न हैं और भिन्न ही रहते है, पर उनके पीछे कोई है जिससे प्रेम में मिलन हो जाता है और जिससे प्रेम में एकता हो जाती है ।

उस एकता के बाद ही कुछ कहा और कुछ समझा जा सकता है ।

प्रेम में और केवल प्रेम में ही संवाद (Communication) **संभव होता है ।**

इस निर्जन में हम इकट्ठा हुये हैं ताकि मैं आपसे कुछ कह सकूँ और आप मुझे सुन सकें । यह कहना और सुनना प्रेम की भूमिका के अतिरिक्त संभव नहीं है । **हृदय के द्वार केवल प्रेम के लिये ही खुलते हैं......और स्मरण रहे कि जब मस्तिष्क से नहीं, हृदय से सुना जाता है, तभी वस्तुतः सुना जाता है ।**

आप कहेंगे कि क्या हृदय भी सुनता है ? मैं कहूँगा कि जब भी सुनना संभव होता है, हृदय ही सुनता है । मस्तिष्क ने आज तक कुछ भी नहीं सुना है । मस्तिष्क बिल्कुल बहरा है ।

और, वही बोलने के संबंध में भी सच है । बोल जब हृदय से आते हैं, तभी वे सार्थक हैं । हृदय से आकर ही उनमें वह गंध होती है जो ताजा फूलों की है, अन्यथा वे बासे ही नहीं, कागज के ही फूल होते हैं ।

मैं अपने हृदय को उंडेलूँगा और यदि आपके हृदय ने द्वार दिया तो मिलन और संवाद हो सकेगा । और, तब उस मिलन के क्षण में वह भी संवादित हो जाता है जिसे कि शब्द कहने में समर्थ नहीं हैं......बहुत सा अनकहा भी उस भाँति सुना जाता है और वह सब जो पंक्तियों में नहीं, वरन् पंक्तियों के बीच के अंतराल में होता है, वह भी संप्रेषित हो जाता है ।

शब्द बहुत असमर्थ संकेत हैं, पर यदि उन्हें चित्त की परिपूर्ण शान्ति और मौन में सुना जा सके तो वे समर्थ हो जाते हैं । इसे ही मैं 'हृदय से सुनना' कहता हूँ ।

पर, हम तो किसी को सुनते समय भी स्वयं के ही विचारों से भरे रहते हैं । वह श्रवण झूठा है । वैसी स्थिति में आप 'श्रावक' नहीं हैं । आपको भ्रम ही है कि आप सुन रहे हैं पर आप सुन नहीं रहे हैं ।

सम्यक् श्रवण के लिये चित्त का बिल्कुल मौन–सजगता (Silent Watchfulness) में होना आवश्यक है । **आप बस सुन ही रहे हैं और कुछ भी नहीं कर रहे हैं ।** तब ही आप सुन पाते हैं, और समझ पाते हैं, और वह समझ (Understanding) आपके भीतर एक परिवर्तन और प्रकाश बन जाती है ।

यदि, ऐसा नहीं है, तो आप किसी और को नहीं, अपने को ही सुनते रहते हैं । आपके भीतर का कोलाहल ही आपको घेरे रहता है । उस घिराव में कुछ भी आपमें संप्रेषित नहीं होता है । तब आप देखते मालूम होते हैं, पर देखते नहीं हैं और सुनते प्रतीत होते हैं, पर सुनते नहीं हैं ।

क्राइस्ट ने कभी कहा था : "**जिनके पास आँखें हों, वे देखें और जिनके पास कान हों, वे सुनें ।**" क्या जिनसे उन्होंने यह कहा था, उनके पास कान और आँखें नहीं थी ? उनके पास आँख और कान तो जरूर थे......पर

आँख और कान का होना ही देखने और सुनने के लिये पर्याप्त है नहीं। **कुछ और भी चाहिये।** जिसके बिना कि उनका होना और न होना बराबर है।

वह कुछ 'और' है, आंतरिक मौन (Inner silence) **और सजग जिज्ञासा।** उस स्थिति में ही चित्त के द्वार खुले हुये होते हैं और कुछ कहा और सुना जा सकता है।

साधना-शिबिर की अवधि में मैं ऐसे श्रवण की अपेक्षा करता हूँ। और वह एक बार आ जावे तो सारे जीवन का साथी हो जाता, है, क्योंकि उसके माध्यम से ही हम अपनी क्षुद्र व्यस्तता से मुक्त होते हैं, और बाहर जो विराट रहस्य का जगत है उसके प्रति जाग पाते हैं और चित्त के कोलाहल के पीछे जो चेतना का अनादि अनंत प्रकाश है, उसे अनुभव कर पाते हैं।

सम्यक् दर्शन या सम्यक् श्रवण, इन साधना-शिबिर की आवश्यकता नहीं है, वह पूरे सम्यक् जीवन का आधार है। शान्त.....सोई हुई लहरों वाली झिल में जैसे सब प्रतिबिम्बित होता है, ऐसे ही आप बनें तो वह आप में प्रतिबिम्बित होगा जोकि सत्य है, जोकि प्रभु है।

मैं वैसे मौन को आप में आते देख रहा हूँ...और आपकी आंखें और आपकी सजग प्यास मुझे कह रही है कि मैं वह कहूँ जो कि मुझे कहना है... और उन सत्यों को जिनके दर्शन ने मुझे ...मेरी आत्मा को आन्दोलित किया है, आपके समक्ष रखूं क्योंकि आपके हृदय उन्हें समझनेको उत्सुक और आतुर हैं।

आप तैयार हैं, यह देखकर मेरा हृदय भी आपके प्रति प्रवाहित होने को तैयार हो रहा है।

इस शान्त परिस्थिति में....और आप की इस शान्त मनःस्थिति में में अवश्य ही वह कह सकूंगा ...जो मैं चाहता हूँ कि सबको कह दूं, लेकिन बहरे हृदयों को देखकर अपने को रोक लेना पडता है। क्या आपके घर के द्वार बन्द देख प्रकाश बाहर ही नहीं रुक जाता है? ऐसे ही अनेक घरों के सामने मुझे रुक जाना पडता है।

पर, आपके द्वार खुले हैं और यह शुभ है। यह शुभारंभ है।

कल प्रभात से हम साधना का पंच दिवसीय जीवन प्रारम्भ करेंगे। उसकी भूमिका क तौर पर कुछ बात आपसे कह देनी जरूरी हैं।

सत्य कि साधना के लिये चित्त कि भूमि वैसे ही तैयार करनी होती है, जैसें फूलों को बोने के लिये पहले भूमि को तैयार किया जाता है।

कुछ सूत्र समझ लें।

पहला सूत्र : बर्तमान में जीना। (Living in the present)। अतीत और भविष्य के चिंतन की यांत्रिक धारा में इन दिनों न बहें। उसके कारण वर्तमान का जीवित क्षण (Living moment) व्यर्थ ही निकल जाता है। जब कि केवल वही वास्तविक है। न अतीत की कोई सत्ता है, न भविष्य की। एक स्मृति में है, एक कल्पना में। वास्तविक और जीवन्त केवल वर्तमान है। **सत्य को यदि जाना जा सकता है, तो केवल बर्तमान में होकर ही जाना जा सकता है।** साधना के इन दिनों में स्मरणपूर्वक अतीत और भविष्य से अपने को मुक्त रखें। समझे कि वे हैं ही नहीं। जो क्षण पास है . . . जिसमें आप हैं, बस वही है। उसमें और उसे परिपूर्णता से जी लेना है। आज कि रात्रि ऐसे सोयें जैसे सारा अतीत छोड़कर सो रहे हैं। **अतीत के प्रति मर जावें।** और सुबह—एक नयी सुबह में और एक नये मनुष्य की भाँति उठे। जो सोया था, वह न उठे। वह सो ही जावे। उसे उठने दें जो कि नित नया है और अभिनव है। इस वर्तमान में जीने को सतत् . . . चौबीस घंटे स्मरण रखे और होश रखें कि कहीं अतीत भविष्य चिन्तन की यात्रिक आदतें पुन: सक्रिय तो नहीं हो गई हैं। उनके प्रति सजग (Watchful) रहना ही पर्याप्त है। **उनकी जागरुकता हो तो वे सक्रिय नहीं हो पाती हैं। अमूर्च्छा उन्हें तोड देती है।**

दूसरा सूत्र : सहजता से जीना। मनुष्य का सारा व्यवहार कृत्रिम है और औपचारिक है। एक मिथ्या आवरण हम अपने पर सदा ओढ़े रहते हैं और, इस आवरण के कारण हमें अपनी वास्तविकता धीरे धीरे विस्मृत ही हो जाती है। इस झूठी खाल को निकालकर अलग रख देना है। नाटक करने नहीं, स्वयं को जानने और देखने हम यहाँ एकत्रित हुये हैं। नाटक के बाद नाटक के पात्र जैसे अपनी नाटकीय वेशभूषा को उतारकर रख देते हैं ऐसे ही आप भी इन दिनों में अपने मिथ्या चेहरों को उतार कर रख दें। वह जो आप में मौलिक है और सहज है . . . उसे प्रगट होने दें और उसमें जिये। सरल और सहज जीवन में ही साधना विकसित होती है। साधना के इन दिनों में जाने कि न आपका कोई पद है, न कोई वैशिष्ठ्य है, न प्रतिष्ठा है . . . उन

सारी नक़ाबों को अलग कर दें। आप निपट आप हैं और अति साधारण मनुष्य हैं, जिसका न कोई नाम है, न कोई प्रतिष्ठा है, न कुल है, न वर्ग है, न जाति है। **एक नामहीन व्यक्ति....एक अतिसाधारण इकाई मात्र..ऐसे हमें जीना है। स्मरण रहे कि वही हमारी वास्तविकता भी है।**

तीसरा सूत्र : अकेले जीना। साधना का जीवन अत्यंत अकेलेपन में.. ...एकाकीपन में जन्म पाता है। पर, मनुष्य साधारणतः कभी भी अकेला नहीं होता है। वह सदा दूसरों से घिरा रहता है, और बाहर भीड़ में न हो तो भीतर भीड़ में होता है। इस भीड़ को विसर्जित कर देना है। भीतर भीड़ को इकट्ठी न होने दें और बाहर भी ऐसे जियें कि जैसे इस शिविर में आप अकेले ही हैं। किसी दूसरे से कोई संबंध नहीं रखना है। सम्बन्धों में हम उसे भूल गये हैं जो कि हम स्वयं हैं। आप किसी के मित्र हैं, या कि शत्रु हैं, पिता है या कि पुत्र हैं, पति है या कि पत्नी हैं...ये संबंध आपको इतना घेरे हुये हैं कि आप स्वयं को अपनी निजता में नहीं जान पाते हैं। क्या आपने कभी कल्पना की है कि आप अपने सम्बन्धों से भिन्न कौन हैं? क्या आपने अपने आपको अपने सम्बन्धों के वस्त्रों से भिन्न करके भी कभी देखा है? **सब सम्बन्धों (Relationships) से अपने को श्रृण करलें...समझें कि आप अपने माँ-बाप के पुत्र नहीं हैं, अपनी पत्नी के पति नहीं है, अपने बच्चों के पिता नहीं हैं, मित्रों के मित्र नहीं हैं, शत्रुओं के शत्रु नहीं हैं...और तब जो शेष बच रहता है, जानें कि वही आपका वास्तविक होना है। वह शेष सत्ता ही अपने-आप-में आप** (You-in-yourself) हैं। उसमें ही हमें इन दिनों जीना है।

इन सूत्रों पर चलने से चित्त की वह स्थिति बनेगी जो कि शान्ति और सत्यानुभूति की साधना के लिये अत्यंत आवश्यक है।

इन सूत्रों के साथ ही मैं उन दो ध्यानों (Meditations) के सम्बन्ध में भी, आपको कुछ समझा दूँ, जो कि हमें कल प्रातःकाल से ही प्रारंभ करने हैं।

पहला ध्यान : प्रातःकाल के लिये। इस ध्यान में रीढ़ को सीधा रखकर आँखें बन्द करके, गर्दन को सीधा रखना है। ओंठ बन्द हों और जीभ तालु से लगी हो। श्वास धीमी पर गहरी लेना है। और ध्यान नाभि के पास रखना है। **नाभि-केंद्र पर श्वास के कारण जो कंपन मालूम होता है, उसके**

प्रति जागे हुये रहना है। बस इतना ही करना है। यह प्रयोग चित्त को शान्त करता है। और विचारों को शून्य कर देता है। इस शून्य से अंततः स्वयं में प्रवेश हो जाता है।

दूसरा ध्यान : रात्रि काल के लिये। आराम से शरीर को लीटा दें और सब अंगों को पूर्णतया शिथिल (Relax) छोड़ दें। आँखें बन्द कर लें और फिर दो मिनिट तक शरीर शिथिल हो रहा है ऐसा भाव (Auto-suggestion) करते रहें। शरीर क्रमशः शिथिल हो जायेगा। फिर दो मिनिट तक श्वाँस शान्त हो रही है, ऐसा भाव करें। श्वाँस भी शान्त हो जायेगी। अंततः, दो मिनिट तक भाव करें कि विचारशून्य हो रहे हैं। **ऐसी संकल्पपूर्वक भावना-पूर्ण शिथिलता, शान्ति और शून्यता में ले जाती हैं। जब चित्त परिपूर्ण शान्त हो जावे. . .तब अंतस् में पूर्णतया जागकर उस शान्ति के साक्षी** (Witness) **बने रहें।** वह साक्षीभाव स्वयं में ले जाता है।

इन दो ध्यानों को ध्याना हैं। **ये वस्तुतः कृत्रिम उपाय** (Artificial device) **हैं।....इन्हें पकड नहीं लेना है। इनके माध्यम से चित्त की अशान्ति विसर्जित हो जाती है। और जैसे जिस सीढी को हम चढ जाते हैं, उसे छोड देते हैं, ऐसे ही एक दिन इन्हें भी छोड़ देना होता है।**

उस दिन ध्यान पूर्ण होता है, जिस दिन कि वह अनावश्यक हो जाता है। उस अवस्था का नाम ही समाधि है।

अब रात्रि धनी हो गई है और आकाश तारों से भर गया है। वृक्ष सो गये हैं. . . .घाटियाँ सो गई हैं, और अब हम भी सोवें। सब कितना शान्त और निस्तब्ध है....इस निस्तब्धता में हम भी मिल जावें। पूर्ण सुषप्ति में... स्वप्नशून्य सुपुप्ति में, हम वहीं पहुँच जाते हैं, जहाँ परमात्मा है। वह प्रकृति से मिली सहज अबोध समाधि है। साधना से भी हम वहीं पहुँचते हैं, पर उस समय हम प्रबुद्ध और जागे हुयें होते हैं। वही भेद है। वह बहुत बड़ा भेद है। एक में हम सोते हैं, दूसरे में जाग जाते हैं।

अभी तो हम सुषुप्ति में चलें....और आशा रखें कि समाधि में भी चलना हो सकेगा। **संकल्प और श्रम के साथ आशा हो तो वह अवश्य फलवती होती है।**

प्रभु मार्ग दे, यही मेरी कामना है।

---

४ जून १९६४

सत्य को पाना है तो मिटना होता हैं. मृत्यु के मूल्य पर अमृत मिलता है. बूंद जब स्वयं को सागर में खो देती है, तो वह सागर हो जाती है.

मैं आपको देखकर अत्यंत आनंदित हूँ। ईश्वर को, सत्य को, स्वयं को पाने को आप इस निर्जन में इकट्ठे हुये हैं। **लेकिन क्या मैं आपसे पूछूं कि जिसे आप खोज रहे हैं, क्या वह आपसे दूर है? जो दूर हो उसे खोजा जा सकता है, पर जो स्वयं आप हो, उसे कैसे खोजा जा सकता है?** जिस अर्थ में शेष सब खोजा जा सकता है, स्व उसी अर्थ में नहीं खोजा जा सकता है। वहाँ जो खोज रहा है, और जिसे खोज रहा है, उन दोनों में दूरी जो नहीं है। **संसार की खोज होती है, स्वयं की खोज नहीं होती है। और जो स्वयं को ही खोजने निकल पड़ते हैं, वे स्वयं से और दूर ही निकल जाते हैं।**

यह सत्य ठीक से समझ लेना आवश्यक है, तो खोज हो भी सकती है। संसार को पाना हो तो बाहर खोजना पड़ता है और यदि स्वयं को पाना हो तो सब खोज छोड़कर अनुद्विग्न और स्थिर होना पड़ता है। उस पूर्ण शांति और शून्य में ही उसका दर्शन होता है, जो कि मैं हूँ। स्मरण रखें कि खोज भी एक उद्विग्नता है, और एक तनाव है। वह भी एक चाह और वासना है। और **वासना से आत्मा को नहीं पाया जा सकता है। वही तो बाधा है।** वासना का अर्थ है कि मैं कुछ होना चाहता हूँ या कि कुछ पाना चाहता हूँ। और, आत्मा वह है जो कि मुझे उपलब्ध ही है, जो कि मैं हूँ ही। **वासना और आत्मा की दिशायें विपरीत हैं। वे विरोधी आयाम (Dimension) हैं। इसलिये, यह ठीक से समझ लें कि आत्मा को पाया तो जा सकता है, पर चाहा नहीं जा सकता है।** आत्मा की कोई चाह नहीं हो सकती है। सब चाह सांसरिक है, और कोई चाह आध्यात्मिक नहीं है। वासना ही तो संसार है। फिर, यह वासना, धन की हो या धर्म की, पद की हो या प्रभु की, मद की हो या मोक्ष की, उसमें कुछ भेद नहीं है। वासना वासना है, और सब वासना अज्ञान है और बंधन है।

मैं आत्मा को चाहने को नहीं कहता हूँ। मैं तो चाह को समझने को कहता हूँ। वासना का ज्ञान वासना से मुक्त कर देना है, क्योंकि वासना का ज्ञान उसके दुःखस्वरूप को प्रगट कर देता है। **दुःख का बोध दुःख से मुक्ति है, क्योंकि दुःख को जानकर कोई दुःख को नहीं चाह सकता है।**

और उस क्षण, जब कोई चाह नहीं होती है, और चित्त वासना से विक्षुब्ध नहीं होता है, और हम कुछ खोज नहीं रहे होते हैं——–उसी क्षण, उस शांत और अकम्प क्षण में ही उसका अनुभव होता है, जो कि हमारा वास्तविक होना (Authentic being) है। वासना जब नहीं होती है, तब आत्मा प्रगट होती है। इसलिये मित्र, **मैं कहूंगा कि आत्मा को मत चाहो, चाह को जानो और उससे मुक्त हो जाओ, तो तुम उसे जान लोगे और पालोगे जो कि आत्मा है।**

धर्म क्या है? धर्म का विचार से, चिन्तन (Thinking) से कोई संबंध नहीं है। उसका संबंध निर्विचारणा से है। विचारणा तत्वमीमांसा (Philosophy) है। उससे निष्पत्तियाँ तो आती हैं, पर समाधान नहीं आता है। धर्म समाधान है। विचार का द्वार तर्कणा है। समाधान का द्वार समाधि है। समाधि=शून्य+चैतन्य (Contentless Consciousness)। चित्त शून्य हो पर जाग्रत (Watchful) हो, उस शांतस्थिति में सत्य के द्वार खुलते हैं। शून्य में ही सत्य का साक्षात होता है, और परिणामस्वरूप सारा जीवन परिवर्तित हो जाता है। शून्य तक, समाधि तक ध्यान से पहुँचते हैं। पर साधारणत: जिसे ध्यान समझा जाता है, वह ध्यान नहीं है। वह भी चिंतन ही है। हो सकता है कि वे विचार आत्मा के हों या परमात्मा के हों, पर वे भी विचार ही हैं। इससे भेद नहीं पड़ता है कि विचार किसके हैं। विचार मात्र वस्तुत: पर का, अन्य का, बाह्य का होता है। विचार मात्र अनात्म का होता है। **'स्व' का कोई विचार नहीं हो सकता है।** विचार के लिये दो का होना जरूरी है। विचार, इस लिये द्वैत के बाहर नहीं ले जाता है। **अद्वैत में, स्व में चलना है, और उसे जानना है, तो विचार नहीं, ध्यान मार्ग है।** विचार और ध्यान बिल्कुल विपरीत दिशायें हैं। एक बहिर्गामी है, एक अन्तर्मुखी है। विचार 'पर' को जानने का मार्ग है, ध्यान 'स्व' को जानने का। पर साधारणत: विचार को ही ध्यान समझ लिया गया है। यह भूल बहुत गहरी और बड़ी है। मैं इस आधारभूत भूल के प्रति आपको सजग करना चाहता हूँ।

ध्यान का अर्थ है क्रियाहीन होना। ध्यान क्रिया नहीं, अवस्था है। वह

अपने स्वरूप में होने की स्थिति है। क्रिया में हम अपने से बाहर के जगत से संबंधित होते हैं। अक्रिया में स्वयं से संबंधित होते हैं। **जब हम कुछ भी नहीं कर रहे हैं, तब हमें उसका बोध होता है जो कि हम हैं।** अन्यथा, क्रियाओं में व्यस्त हम स्वयं से ही अपरिचित रह जाते हैं। यह स्मरण भी नहीं आ पाता है कि हम भी हैं। हमारी व्यस्तता बहुत सघन है। शरीर तो विश्राम भी करले, मन तो विश्राम करता ही नहीं है। जागते हम सोचते हैं, सोते स्वप्न देखते हैं। इस सतत् व्यस्तता और क्रिया से घिरे हुये, हम स्वयं को भूल ही जाते हैं। अपनी ही क्रियाओं की भीड़ में अपना ही खोना हो जाता है। यह कैसा आश्चर्यजनक है? पर यही हमारी वस्तुस्थिति है। हम खो गये हैं। किन्हीं, अन्य लोगों की भीड़ में नहीं अपने ही विचारों, अपने ही स्वप्नों, अपनी ही व्यस्तताओं और अपनी ही क्रियाओं में। हम अपने ही भीतर खो गये हैं। ध्यान इस स्व-निर्मित भीड़ से, इस कल्पित भटकन से बाहर होने का मार्ग है। निश्चित ही वह स्वयं कोई क्रिया नहीं हो सकता है। वह कोई व्यस्तता नहीं है। वह अव्यस्त मन (unoccupied Mind) का नाम है। मैं यही सीखाता हूँ। यह कैसा अजीब सा लगता है, कहना कि मै अक्रिया सिखाता हूँ। और, यह भी कि यहाँ हम अक्रिया करने को इकट्ठे हुये हैं। मनुष्य की भाषा बहुत कमजोर है और बहुत सीमित है। वह क्रियाओं को ही प्रगट करने को बनी है, इसलिये आत्मा को प्रगट करने में सदा असमर्थ हो जाती है। निश्चित ही जो वाणी के लिये निर्मित है, वह मौन को कैसे अभिव्यक्त कर सकती है?

'ध्यान' शब्द से प्रतीत होता है कि वह कोई क्रिया है, पर वह क्रिया बिल्कुल भी नहीं है। मैं कहूँ कि 'मैं ध्यान करता था', तो गल्त होगा, उचित होगा कि मैं कहूँ कि मै 'ध्यान में था'। वह बात प्रेम जैसी ही है। मैं प्रेम में होता हूँ। प्रेम किया नहीं जाता है। इसलिये मैंने कहा कि ध्यान एक चित्त–अवस्था (State of Mind) है।

यह प्रारम्भ में ही समझ लेना बहुत जरूरी है। हम यहाँ कुछ करने को नहीं, वरन उस स्थिति को अनुभव करने आये हैं, जब बस केवल हम होते

हैं, और कोई क्रिया हममें नहीं होती है। क्रिया का कोई धुआँ नहीं होता है और केवल सत्ता की अग्निशिखा ही रह जाती है। बस, 'मैं' ही रह जाता हूँ। यह विचार भी नहीं रह जाता है कि 'मैं हूँ'। बस 'होना' मात्र ही रह जाता है। इसे ही शून्य समझें। यही वह बिन्दु है जहां से संसार का नहीं, सत्य का दर्शन होता है। इस शून्य में ही वह दीवार गिर जाती है, जो मुझे स्वयं को जानने से रोके हुये हैं, विचार के पर्दे उठ जाते हैं, और प्रज्ञा का आविर्भाव होता है। इस सीमा में विचारा नहीं, जाना जाता है। दर्शन है यहाँ, साक्षात् है यहाँ। यद्यपि न दर्शन शब्द ठीक है, न साक्षात् शब्द ठीक है। क्योंकि, यहाँ ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं है, क्योंकि यहाँ दृश्य (Object) और दृष्टा (Subject) का भेद नहीं है। यहाँ न ज्ञेय (Known) है, न ज्ञाता (Knower) है। यहाँ तो केवल ज्ञान (Knowing) ही है। यहाँ तो कोई भी शब्द ठीक नहीं है। यहाँ निशब्द ही ठीक है।उस संबंध में कोई पूछता है तो मैं मौन ही रह जाता हूँ, या कि कहूँ कि मौन से ही कहता हूं।

ध्यान अक्रिया है। क्रिया हम उसे कहते हैं जिसको हम चाहें तो करें चाहें तो न करें। स्वभाव क्रिया नहीं है। वह हमारा करना, न करना, नहीं है। उदाहरण के लिये ज्ञान और दर्शन स्वभाव के अंग हैं। वे हमारी सत्ता हैं। हम कुछ भी न करें, तब भी वे होंगे ही। स्वभाव की उपस्थिति हममें अविछिन्न है। जो सतत् और अविछिन्न है, उसे ही स्वभाव कहा जाता है। वह हमारा निर्माण नहीं, हमारा आधार है। वही हम हैं। हम उसे नहीं बनाते हैं, वही हमें धारण किये हुये है, इसलिये उसे धर्म कहा है। धर्म यानी स्वभाव, धर्म यानी शुद्ध सत्ता (Existence) यह अविछिन्न स्वभाव क्रियाओं के विछिन्न प्रवाह में दब जाता है। सागर को जैसे लहरें ढाँक लेती हैं, सूरज को जैसे बदलियाँ ढांक लेती हैं, ऐसे ही हम अपनी ही क्रियाओं से ढँक जाते हैं। सतह पर क्रियाओं का आवरण, जो गहरे में है, उसे छिपा लेता है। क्षुद्र लहरें सागर की असीम गहराई पर आवरण बन जाती हैं। कैसा आश्चर्य है कि क्षुद्र से विराट दब जाता है? आँख में गिरा छोटा-सा तिनका पर्वतों को ओझल कर लेता है। पर सागर लहरों में मिटता

नहीं है। लहरों का भी प्राण वही है, और लहरों में भी वह उपस्थित है। जो जानते हैं, वे उसे लहरों में भी जानते हैं, पर जो नहीं जानते हैं, उन्हें लहरों के शान्त होने तक प्रतीक्षा करनी होती है। लहरों के न हो जाने पर उन्हें सागर के दर्शन होते हैं। इस स्वभाव में ही चलना है। लहरों को छोड़कर सागर में चलना है। अपनी उस गहराई को जानना है, जहाँ सत्ता है, सागर है, पर तरंगें नहीं हैं, जहाँ आत्मा (Being) है, पर वासना (Becoming) नहीं है। वह निस्तरंग निष्कंप प्रज्ञा का जगत् प्रतिक्षण हममें उपस्थित है, पर हम उसकी ओर उपस्थित नहीं हैं। हम उसकी ओर उन्मुख नहीं हैं। हम बाहर देख रहे हैं। हम वस्तुओं को देख रहे हैं। हम संसार को देख रहे हैं। **पर एक बात को देखें कि हम 'देख' रहे हैं। जो दिखाई पड़ता है। वह संसार है, पर जो देख रहा है, वह तो संसार नहीं है। वह तो स्व है। दृष्टि दृश्य से बँधी हो तो विचार है: दृष्टि दृश्य से मुक्त हो, द्रष्टा पर आ जाये तो ध्यान है।** विचार और ध्यान का मेरा भेद समझ रहे हैं न? दर्शन, देखना तो दोनों में उपस्थित है, पर एक में वह विषयगत (Objective) है, दूसरे में आत्मगत (Subjective) है। पर हम विचार में हों, या ध्यान में हों, दर्शन तो दोनों में ही उपस्थित होता है। हम क्रिया में हों या अक्रिया में 'दर्शन' तो दोनों में ही उपस्थित रहता है। जागृति में संसार को देखते हैं, निद्रा में स्वप्न को देखते हैं, समाधि में स्वयं को देखते हैं, पर देखना हर स्थिति में साथ होता है। यह 'देखना' हममें अविच्छिन्न है। यह हमारा स्वभाव है, यह किसी भी स्थिति में अनुपस्थित नहीं होता है। मूर्च्छा और सुषुप्ति में भी वह होता है। मूर्छा के बाद हम कहते हैं की मैं कहाँ था, मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं है। इसे अज्ञान न समझ लें। यह भी ज्ञान है। यदि, दर्शन बिल्कुल मिट गया होता तो 'मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं है' यह बोध भी नहीं हो सकता था। उस स्थिति में वह समय ही मेरे लिए नहीं हो जाता, जो मूर्च्छा में बीता है। वह मेरे जीवन का ही हिस्सा नहीं हो सकता था और मेरी स्मृति में उसका कोई भी अंकन नही होता। हम जानते हैं कि हम किसी ऐसी स्थिति में थे कि कुछ भी नहीं जान रहे थे, यह ज्ञान ही है और दर्शन इसमें भी उपस्थित

रहा है। स्मृति ने निश्चित ही इस बीच कोई अंतर या बाह्य घटना अंकित नहीं की है, लेकिन दर्शन ने इस अंतराल (Interval) को, इस रिक्त स्थान (Gap) को अवश्य देखा है, अनुभव किया है। और अतराल का यही अनुभव, घटनाओं के अंकन के बीच में छूटा यही रिक्त स्थान, बाद में स्मृति भी जान लेती है। ऐसे ही, सुषुप्ति में भी, जब कोई स्वप्न भी नहीं होता है, तब भी दर्शन उपस्थित रहता है। सुबह जागकर हम कह पाते है कि रात्रि बडी गहरी नींद थी, इतनी कि कोई स्वप्न भी नहीं था। यह स्थिति भी देखी गई है। इससे समझें कि **स्थितियाँ बदलती हैं, चेतना विषय** (Content) **बदलते हैं, पर दर्शन नहीं बदलता है। हमारे अनुभवमें सब बदल जाता है, सब प्रवाह है, केवल वही एक नित्य उपस्थिति है। वह अकेला ही सारे परिवर्तन, सारे प्रवाह का साक्षी (Witness) है। इस नित्यको ही जानना स्व को जानना है। वही अकेला केवल स्वभाव है। शेष सब अन्य है, पर है। शेष सब संसार है।**

इस साक्षी को किसी क्रिया, किसी पूजा, किसी आराधना, किसी मंत्र, किसी तंत्र से नहीं पाया जा सकता **है, क्योंकि वह उन सबका भी साक्षी है।** वह उन सबसे भी अन्य और पृथक है। जो भी दृश्य है, जो भी कर्म है, वह उससे अन्य और भिन्न है। वह तो क्रिया नहीं, अक्रिया से मिलेगा; वह तो कर्म से नहीं, शून्य से मिलेगा। वह तो उस समय मिलेगा जब न तो कोई कर्म है, न कोई दृश्य हैं, जब केवल साक्षी मात्र ही शेष रह गया है, जब केवल दर्शन मात्र ही शेष रह गया है। जब हम देख तो रहे हैं, पर दिखाई कुछ नहीं पड़ रहा है, जब हम जान तो रहे हैं पर जान कुछ भी नही रहे हैं—इस विषय शून्य चैतन्य (Contentless Consciousness) में वह जाना जाता है, जो कि सब को जानने वाला है। **दृश्य जब नहीं है, तब दृष्टा के आवरण गिरते हैं और ज्ञेय जब कुछ भी नहीं है तब ज्ञान जाग्रत होता है।** तरंगें जब नहीं होती हैं, तब सागर के दर्शन होते हैं। और, बदलियां जब नहीं होती हैं तो नीलाकाश के दर्शन होते हैं। यह सागर प्रत्येक के भीतर है, और यह आकाश (Space)

प्रत्येक के भीतर है। हम इस आकाश को जानना चाहते हैं, तो निश्चय ही जान सकते हैं। इस आकाश तक पहुँचने का रास्ता भी है। वह भी प्रत्येक के ही पास है। और हममें से प्रत्येक उस पर चलना भी जानता है। **पर हम केवल एक ही दिशा (Dierction) में चलना जानते हैं** । क्या आपने इस सत्य पर कभी विचार किया है कि कोई भी रास्ता केवल एक दिशागामी नहीं हो सकता है? प्रत्येक राह अनिवार्यतः दो दिशाओं में, दो विपरीत दिशाओं में सत्ता रखती है। उसके होने के लिये ही यह अनिवार्य है कि वह एक ही साथ दो विपरीत दिशाओं में हो। अन्यथा वह हो ही नहीं सकती है। जो मार्ग आपको यहाँ.....इस पहाडी निर्जनता तक ले आया है....वही आपको वापस भी ले जायेगा। आने का और जाने का मार्ग एक ही है। वही मार्ग दोनों काम करेगा। **मार्ग तो वही होगा...केवल दिशा वही नहीं होगी। संसार और स्व का मार्ग तो एक ही है। जो संसार में लाता है, वही स्वयं में भी ले जायेगा। केवल दिशा विपरीत होगी। अभी तक जो सामने था, वही अब पीछे होगा। और जो पीठ की ओर था, उस पर आँखें करनी होंगी। रास्ता वही है, केवल हमें विपरीत मुड़ जाना है। सन्मुख से विमुख और विमुख के सन्मुख होना है।**

हम अभी किसके सन्मुख है? इसका विचार करें। हम किसे देख रहे हैं? इसे अनुभव करें। हमारी दर्शन की, चैतन्य की धारा अभी किस दिशा में प्रवाहित हो रही है ? इसका निरीक्षण (Observation) करें। आप क्या पाते हैं? पाते हैं कि बाहर को बहे जाते हैं। सब विचार बाहर के संबंध में चल रहे हैं। चौबीस घंटे बाहर के लिये सोच रहे हैं। बाहर को सोच रहे हैं। आँख खुलती हैं तो बाहर देखते हैं, आँख बन्द होती है तो बाहर देखते हैं, क्योंकि बाहर से अंकित रूप और चित्र (Images) आँख बन्द होने पर जाग जाते हैं, और हमें घेर लेते हैं। एक वस्तुओं का जगत बाहर है, और भीतर भी बाहर से प्रतिध्वनित एक विचारों का जगत है। वह भीतर होकर भी बाहर है, क्योंकि 'मैं' साक्षी की भाँति उसके बाहर ही होता हूँ। उसे भी मैं देखता हूँ। इसलिये वह भी बाहर ही है। वस्तुयें घेरे हैं और विचार घेरे हैं। पर गहरा

निरीक्षण करेंगे तो ज्ञात होगा कि **वस्तुओं का घेरा अत्मज्ञान के लिये बाधा नहीं है। बाधा विचार का घेरा है।** वस्तुयें आत्मा को घेर भी कसे सकती हैं? पदार्थ केवल पदार्थ को घेरता है। आत्मा विचार से घिरी है। दर्शन की, चैतन्य की धारा विचार की ओर बह रही है। विचार और विचार और केवल विचार हमारे सन्मुख हैं। दर्शन उनसे ही आच्छादित है।

विचार से विमुख और निर्विचार (Thoughtlessness) **के सन्मुख होना है। यही दिशा क्रांति है।** यह कैसे होगा? विचार कैसे पैदा होते हैं? यह जानना जरुरी है, तभी उन्हें जन्मने से रोका जा सकता है। साधारणतया उनकी उत्पत्ति के सत्य को जाने बिना ही तथाकथित साधक उनके दमन (Suppression) में लग जाते हैं। इससे विक्षिप्त तो कोई हो सकता है, विमुक्त नहीं हो सकता है। विचार के दमन से कोई अतर नही पड़ना है, क्योंकि वे प्रतिक्षण नये नये उत्पन्न हो जाते हैं। वे पौराणिक कथाओं के उन राक्षसों की भाँति हैं, जिनके एक सिर को काटने पर दस सिर पैदा हो जाते थे। मैं विचारों को मारने को नहीं कहता हूँ। वे स्वयं ही प्रतिक्षण मरते रहते हैं। कौनसा विचार बहुत देर टिकता है? विचार बहुत अल्पजीवी है। कोई भी विचार कहाँ ज्यादा जीता है। **विचार तो नहीं टिकता, पर विचार-प्रक्रिया** (Thought-Process) **टिकती है।** एक एक विचार तो अपने आप मर जाता है, पर विचार प्रवाह नहीं मरता है। एक विचार मर भी नहीं पाता है कि दूसरा उसका स्थान ले लेता है। यह स्थानपूर्ति बहुत त्वरित है। यही समस्या है। **विचार की मृत्यु नहीं, उसकी त्वरित उत्पत्ति वास्तविक समस्या है। विचार को, इसलिये, मैं मारने को नहीं कहता हूँ। मैं उसके गर्भाधान को समझने और उससे मुक्त होने को कहता हूँ।** जो विचार के गर्भाधान के विज्ञान को समझ लेता है, वह उससे मुक्त होने का मार्ग सहज ही पा जाता है। और जो यह नहीं समझता है, वह स्वयं ही एक और बिचार पैदा किये जाता है और दूसरी ओर उनसे लड़ता भी है। इससे विचार तो नही टटते, विपरीत वह स्वयं ही टूट जाता है।

मैं पुनः दोहराता हूँ कि विचार समस्या नहीं, विचार की उत्पत्ति समस्या है।

वह कैसे पैदा होता है, यह सवाल है। उसकी उत्पत्ति पर निरोध हो, या कहें कि विचार का जन्म-निरोध हो तो पू ँ से जन्मे विचार तो क्षण में विलीन हो जाते हैं। उनकी निर्जरा तो प्रतिक्षण हो रही है, पर निर्जरा हो नहीं पाती है, क्योंकि नयों का आस्रव और आगमन होता चला जाता है। मैं कहना चाहता हूँ कि निर्जरा नहीं करनी है, केवल आस्रव निरोध करना है। आस्रव निरोध ही निर्जरा है। यह हम सब जानते हैं कि चित्त चंचल है। इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ है कि कोई भी विचार दीर्घजीवी नही है। विचार पलजीवी है। वह तो जन्मता है और मर जाता है। उसके जन्म को रोक लें तो उसकी हत्या की हिंसा से भी बच जावेंगे, और वह अपने आप विलीन भी हो जाता है।

विचार की उत्पत्ति कैसे होती है?

विचार की उत्पत्ति, उसका गर्भाधान, बाह्य जगत् के प्रति हमारी प्रतिक्रिया (Reaction) से होता है। बाहर घटनाओं और वस्तुओं का जगत् है। इस जगत् के प्रति हमारी प्रतिक्रिया ही हमारे विचारों की जन्मदात्री है। मैं एक फूल को देखता हूँ, —'देखना' कोई विचार नही है, और यदि मैं देखता ही रहूँ तो कोई विचार पैदा नहीं होगा। पर मैं देखते ही कहता हूँ कि 'फूल बहुत सुन्दर है' और विचार का जन्म हो जाता है। मैं यदि मात्र देखूं तो सौंदर्य की अनुभूति तो होगी, पर विचार का जन्म नहीं होगा। पर अनुभूति होते ही हम उसे शब्द देने में लग जाते हैं। **अनुभूति को शब्द देते ही विचार का जन्म हो जाता है। यह प्रतिक्रिया, यह शब्द देने की आदत, अनुभूति को, दर्शन को विचार से आच्छादित कर देती है। अनुभूति दब जाती है, दर्शन दब जाता है, और शब्द चित्त में तैरते रह जाते हैं। ये शब्द ही विचार हैं।** ये विचार अत्यंत अल्पजीवी हैं, और इसके पहले कि एक विचार मरे हम दूसरी अनुभूति को विचार में परिणत कर लेते हैं। फिर यह प्रक्रिया जीवन भर चलती रहती है। और हम शब्दों से इतने भर जाते और दब जाते हैं कि स्वयं को ही उनमें खो देते हैं। **दर्शन को शब्द देने की आदत छोडना विचार का जन्म-निरोध है।** इसे समझें। मैं आपको देख रहा हूं, और मैं आपको मात्र देखता

(Just Seeing) ही रहूँ, और इस दर्शन को कोई शब्द न दूँ, तो क्या होगा? आप अभी कल्पना भी नहीं कर सकते हैं कि क्या होगा ? एक इतनी बडी क्रान्ति होगी कि जीवन म उससे बड़ी कोई क्रान्ति (Revolution) नहीं होती है। शब्द बीच में आकर उस क्रान्ति को रोक लेते हैं। विचार का जन्म उस क्रान्ति में अवरोध हो जाता है।

यदि, मैं आपको देखता ही रहूँ और कोई शब्द इस दर्शन को न दूँ. . . मात्र देखता ही रहूँ तो आपको देखते–देखते मैं पाऊँगा कि एक अलौकिक शान्ति मेरे भीतर अवतरित हो रही हैं, एक शून्य परिव्याप्त हो रहा है, **क्योंकि शब्द का न होना ही शून्य है, और इस शून्य में चेतना की दिशा परिवर्तित होती है, फिर आप ही नहीं दीखते हैं, वरन् क्रमशः वह भी उभरने लगता है जो कि आपको देख रहा है।** चेतना–क्षितिज पर एक नया जागरण होता है, जैसे कि हम किसी स्वप्न से जाग उठे हों, और एक निर्मल आलोक से और एक अपरिसीम शान्ति से चित्त भर जाता है।

इस आलोक में स्वयं का दर्शन होता है।

इस शून्य में सत्य का अनुभव होता है।

मैं अंत में यही कहूँगा कि इस साधना शिबिर में दर्शन, शब्द से, आच्छादित न हो, यही प्रयोग हमें करना है। इस प्रयोग को मैं 'सम्यक् स्मृति' (Right Mindfulness) कहता हूँ। यह स्मृति रखनी है, यह होश (Awareness) रखना है, कि शब्द का संगठन न हो। **शब्द बीच में न आये यह हो सकता है, क्योंकि शब्द केवल हमारी आदत** है। एक नवजात शिशु जगत को बिना शब्द के देखता है। वह शुद्ध प्रत्यक्षीकरण है। फिर धीरे–धीरे वह शब्द की आदत सीखता है, क्योंकि बाह्य जगत् और बाह्य जीवन के लिये वह सहयोगी और उपयोगी है। पर जो बाह्य जीवन के लिये सहयोगी है, वही अंतस् जीवन को जानने में बाधा हो जाता है। **और, इसलिए एक बार फिर वृद्धों को भी नवजात शिशु के शुद्ध दर्शन को जगाना पड़ता है, ताकि वे स्वयं को जान सकें। शब्द से जगत् को जाना, फिर शून्य से स्वयं को जानना होता है।**

इस प्रयोग में हम क्या करेंगे? शान्त बैठेंगे। शरीर को शिथिल (Relaxed) और रीढ को सीधा रखेंगे। शरीर के सारे हलन–चलन (Movement) को छोड ेंगे। शान्त, धीमी, पर गहरी श्वांस लेंगे। और मौन, अपनी श्वांस को देखते रहेंगे और बाहर की जो भी ध्वनियाँ सुनाई पडें, उन्हें सुनते रहेंगे। कोई प्रतिक्रिया नहीं करेंगे। उन पर कोई विचार नहीं करेंगे। शब्द न हों और हम केवल साक्षी हैं, जो भी हो रहा है, हम केवळ उसे दूर देख खड़े जान रहे हैं, ऐसे भाव में अपने को छोड़ देंगे। कहीं कोई एकाग्रता (Concentration) नहीं करनी है। बस चुप जो भी हो रहा है उसके प्रति जागरूक बने रहना है।

सुनो! आँखें बन्द करलो और सुनो..... चुपचाप मौन में सुनो.... चिडियों की टी..वी..टुट..टुट..हवाओं के वृक्षों को हिलाते थपेड़े, किसी बच्चे का रोना और पास के कुएँ पर चलती हुई रेंट की आवाज...और वस सुनते रहो, अपने भीतर साँस का स्पंदन और हृदय की धड़कन और फिर एक अभिनव शान्ति और सन्नाटा उतरेगा और आप पाओगे कि बाहर ध्वनि है पर भीतर निस्तब्धता है, और आप पाओगे कि एक नये शान्ति के आयाम में प्रवेश हुआ है।

तब विचार नहीं रह जाते हैं, केवल चेतना रह जाती है और इस शून्य के माध्यम में ध्यान (Attention) उस ओर मुडता है जहाँ हमारा आवास है। हम बाहर से घर की ओर मुडते हैं।

दर्शन बाहर लाया है, दर्शन ही भीतर ले आता है। केवल देखते रहो.. देखते रहो...विचार को, श्वांस को, नाभि-स्पंदन को.....और कोई प्रतिक्रिया मत करो....और फिर कुछ होता है .....जो हमारे चित्त की सृष्टि नहीं है........जो हमारी सृष्टि नही है, वरन् जो हमारा होना है, हमारी सत्ता है....जो धर्म है...जिसने हमें धारण किया है.....वह उद्घाटित हो जाता है और हम आश्चर्यों के आश्चर्य स्वयं के समक्ष खड़े हो जाते हैं।

मैं याद करता हूँ: एक पहाड़ी पर एक साधु खड़ा था। अभी सुबह ही थी और सूरज की किरणों का जाल फैलना शुरू ही हुआ था। कुछ मित्र घूमने निकले थे। उन्होंने एकांत में खड़े उस साधु को देखा। उन्होंने आपस में सोचा: वह वहाँ क्या करता होगा? किसी ने कहा: 'कभी कभी उसकी गाय वन में खो जाती है, शायद वह ऊँचाई पर खड़ा होकर उसे ही खोजता है।' पर दूसरे मित्र सहमत न हुये। एक ने कहा: 'उसे देख ऐसा नहीं लगता कि वह कुछ खोजता है। उसे देख लगता है कि वह किसी की प्रतीक्षा में है। कोई मित्र साथ आया होगा और वह पीछे छूट गया है, वह उसी की प्रतीक्षा कर रहा है।' पर दूसरे इससे भी सहमत न हुये। तीसरे ने कहा: 'न वह कुछ खोज रहा है, न प्रतीक्षा कर रहा है। वह प्रभु के चिन्तन में लीन है।' उनमें सहमति न हो सकी। वे निर्णय के लिये साधु के पास गये। प्रथम ने साधु से पूछा: 'क्या आप अपनी गाय खोज रहे हैं?' उस निर्जन में खड़े व्यक्ति ने कहा: 'नहीं।' दूसरे ने पूछा: 'क्या आप किसी की प्रतीक्षा कर रह हैं?' उस एकाकी खड़े व्यक्ति ने कहा: 'नहीं।' तीसरे ने पूछा: 'क्या आप प्रभु का चिन्तन कर रहे हैं?' वह फिर भी बोला: 'नहीं।' वे तीनों हैरान हुये। उन्होंने सम्मिलित ही पूछा: 'फिर आप क्या कर रहे हैं?' वह साधु बोला: 'कर कुछ भी नहीं रहा हूँ। मैं केवल खड़ा ही हूँ—(I am just standing)। मैं बस हूँ— ही (I am just Existing)।'

ऐसे ही बस होना है। कुछ भी नहीं करना है। सब छोड़ देना है और रह जाना है। फिर कुछ होगा जिसे शब्दों में नहीं कहा जा सकता है। वह अनुभूति ही, जो शब्दों में नहीं आती है, सत्य की, स्वयं की, परमात्मा की अनुभूति है।

प्रश्न १ : क्या धर्म और विज्ञान में विरोध है?

☆ नहीं। विज्ञानको जानना अधूरा ज्ञान है। वह ऐसा ही है कि सारे जगत् में तो प्रकाश हो और मेरे अपने ही घर में अंधेरा हो। ऐसे अधूरे ज्ञान से . . . अपने को ही न जानने से. . . जीवन दुःख में परिणत हो जाता है। जीवन शान्ति, सन्तोष और कृतार्थता से भरे, इसके लिये वस्तुओं को जानना ही पर्याप्त नहीं है। उस तरह समृद्धि आ सकती है, पर धन्यता नहीं आती है। उस तरह परिग्रह आता है, पर प्रकाश नहीं आता है। और **प्रकाश न हो तो परिग्रह बन्धन हो जाता है। वह अपने ही हाथों लगाई फाँसी हो जाती है।** जो संसार को ही जानता है, वह अधूरा है और इस अधूरेपन से दुख पैदा होते हैं।

संसार को जानने से शक्ति उपलब्ध होती है। विज्ञान (Science) उसी की खोज है। क्या देख नहीं रहे हैं कि विज्ञान ने अपरिसीम शक्तियों की रहस्य-कुंजियाँ मनुष्य के हाथों में दे दी हैं ? पर उस शक्ति–उपलब्धि से कुछ भी शुभ नहीं हुआ है। शक्ति आई है, पर शान्ति नहीं आई है। **शान्ति पदार्थ को नहीं, परमात्मा को जानन से आती है।** उसका अन्वेषण धर्म (Religion) है। अकेली शक्ति, शान्ति के अभाव में आत्मघातक है। पदार्थ का ज्ञान, आत्मज्ञान के अभाव में . . . . अज्ञान के हाथों में शक्ति है। उससे शुभ फलित नहीं हो सकता है।

अब तक विज्ञान और धर्म में, संसार और अध्यात्म में जो विरोध रहा है, उसका परिणाम अशुभ हुआ है। जिन्होंने मात्र विज्ञान की खोज की है, वे

शक्तिशाली हो गये हैं, पर अशान्त और सन्तापग्रस्त हैं; और जिन्होंने मात्र धर्म का अनुसन्धान किया है वे शान्त हो गये है, पर अशक्त और दरिद्र हैं। यह अब तक की साधना खंडित रही है। अब तक सत्य की पूरी और अखंड़ित साधना नही हुई है। **मैं शक्ति और शान्ति को अखंड़ित रूप में देखना चाहता हूँ। मैं विज्ञान और धर्म में सम्मिलन को चाहता हूँ।** उससे पूर्ण मनुष्य का जन्म होगा और एक पूर्ण संस्कृति का भी, जो अन्तर-बाह्य, दोनों रूपों में समृद्ध होगी। **मनुष्य न तो मात्र शरीर ही है, न मात्र आत्मा ही। वह दोनों का सम्मिलन है। इसलिये उसका जीवन किसी एक पर ही आधारित हो तो अधूरा हो जाता है।**

प्रश्न २ : संसार और सन्यास के संबंध में आपके क्या विचार है? क्या संन्यास संसार को छोडने से ही आता है?

★ संसार और सन्यास का विरोध नहीं है। **संसार नहीं, अज्ञान छोडना होता है।** संसार-त्याग का नाम संन्यास नहीं है। ज्ञान का जागरण, आत्मज्ञान का जागरण, संन्यास है। उस जागरण में संसार नहीं, आसक्ति छूट जाती है। संसार तो जहाँ है, जैसा है, वही होता है, पर हम परिवर्तित हो जाते हैं। और हमारी दृष्टि परिवर्तित हो जाती है। वह परिवर्तन बहुत मौलिक है। उस ज्ञान–जागरण में कुछ छोड़ना नहीं होता है, जो व्यर्थ है वह अपने आप ही पके पत्तों की भाँति झड़ जाता है।

प्रकाश के आगमन पर अंधेरा चला जाता है। ऐसे ही ज्ञान के आगमन पर जीवन में जो भी कलुषित है, वह बह जाता है, और तब जो शेष रहा जाता है, वह संन्यास है।

संन्यास का संबंध संसार से बिल्कुल भी नहीं, स्व से है। वह स्व–शुद्धि है : जैसे स्वर्ण अशुद्ध से शुद्ध हो जावे। अशद्ध स्वर्ण में और शुद्ध स्वर्ण में विरोध नहीं, विकास है।

जीवन को आत्म–अज्ञान के बिन्दु से देखना संसार है : आत्मज्ञान के बिन्दु से देखना संन्यास है।

इसलिये जब कोई कहता है कि मैंने संन्यास लिया है, तो मुझे बात बडी असत्य मालूम होती है। यह लिया हुआ संन्यास ही संसार के विरोध की भ्रांति पैदा कर देता है। संन्यास भी क्या लिया जा सकता है? क्या कोई कहेगा कि ज्ञान मैंने लिया है? लिया हुआ ज्ञान भी क्या कोई ज्ञान होगा ? ऐसा ही लिया हुआ संन्यास भी, संन्यास नहीं होता है। सत्य ओढ़े नहीं जाते हैं। उन्हें जगाना होता है। संन्यास का जन्म होता है। वह ज्ञान से आता है। उस ज्ञान में हम परिवर्तित होते चले जाते हैं. . . . हमारा ज्ञान बदलता है, दृष्टि बदलती है, और अनायास ही आचरण भी बदल जाता है। संसार जहाँ के तहाँ होता है, पर हमारे भीतर संन्यास का जन्म होता जाता है। **संन्यास का अर्थ है : यह बोध कि मैं शरीर ही नहीं हूँ, आत्मा हूँ। इस बोध के साथ** ही भीतर आसक्ति और मोह नहीं रह जाता है। संसार बाहर था, अब भी वह बाहर होगा, पर भीतर उसके प्रति राग—शून्यता होगी, या यूँ कहें कि संसार अब भीतर नही होगा। **बाहर जो संसार है, उसे पकड़ना भी अज्ञान है, उसे छोडना भी अज्ञान है; क्योंकि दोनों ही स्थितियों में हम उससे संबंधित होते** हैं। संसार –राग भी अज्ञान है, संसार विराग भी अज्ञान है। वे दोनों ही सम्बन्ध है। **असम्बन्ध तो वीतरागता है। वीतरागता विराग नहीं है। वह राग और विराग दोनों का अभाव है। इसी अभाव को मैं संन्यास कहता हूँ।**

राग विराग का अभाव ज्ञान से आता है। राग एक अज्ञान है। उस अज्ञान में ही उससे ऊबकर जो प्रतिक्रिया होती है, वह विराग है। वह प्रतिक्रिया भी अज्ञान है। एक में व्यक्ति संसार की ओर भागता है, दूसरे में संसार से दूर भागता है। पर दोनों ही भागते हैं और नहीं जानते कि जो उनके भीतर बैठा है, उसका आनन्द न संसार में है, न संसार से दूर जाने में। उसका आनन्द तो स्वयं में प्रतिष्ठित होने में है। **न संसार में जाना है, न संसार के विरोध में जाना है. . . . विपरीत अपने में आना है।**

स्मरण रखें कि अपने में आना है. . यह आना न राग से होता है, न विराग से होता है। यह तो राग-विराग के अंतर्द्वन्द्व के साक्षी बनने से संभव होता है। कोई हमारे भीतर, हमारे रागों और विरागों . . . . दोनों का ही साक्षी है। उसे ही जानना है। जो मात्र साक्षी है, उसे ही जानने से वीतरागता अपने आप फलित होती है। वह आत्म-ज्ञान का सहज परिणाम है।

प्रश्न ३:--आपकी दृष्टिसे तो घर द्वार छोड़ना व्यर्थ है ?

☆ मैं महावीर का एक सूत्र याद करता हूँ। महावीर ने कहा है : **मूर्च्छा परिग्रह है।** उन्होंने परिग्रह मूर्च्छा है, ऐसा क्यों नहीं कहा? हमारे अज्ञान के कारण, हमारी अंतस् मूर्च्छा के कारण, हममें वस्तुओं के प्रति आसक्ति है। हम भीतर तो खाली और दरिद्र हैं और इसलिये बाहर की वस्तुओं से ही अपने को भर लेना चाहते हैं। उस भाँति ही हम अपने को भ्रम देते हैं कि हम कुछ हैं। ऐसी स्थिति में यदि कोई आसक्ति छोड़ेगा.....और भीतर अज्ञान बना ही रहा तो क्या आसक्ति छूट सकेगी? वस्तुयें छूट जायेंगी.... पर आसक्ति नहीं छूटेगी। घर छूट जायेगा तो आश्रम में आसक्ति आ जायेगी। परिवार छूट जायेगा तो संप्रदाय में आसक्ति आ जायेगी। आसक्ति भीतर है तो वह नई स्थितियों में अपना प्रकाशन बना लेगी। इसलिये, जो जानते हैं, उन्होंने वस्तुयें छोड़ने को नहीं, मूर्च्छा छोड़ने को कहा है, अज्ञान छोड़ने को कहा है। **ज्ञान के आगमन पर जो व्यर्थ है, वह छोड़ना नहीं** होता **है, अपने आप छूट जाता है।**

प्रश्न ४ : विचार--शून्यता के लिये क्या हम चित्त को एकाग्र करें ?

☆ मैं चित्त को एकाग्र (Concentrate) करने के लिये नहीं कह रहा हूँ। वह एक तरह की जबरदस्ती और तनाव (Tension) है। किसी विचार, किसी रूप, किसी प्रतिमा, किसी शब्द पर यदि एकाग्रता की जावे तो उसके परिणाम में विचार शून्यता तो नहीं, चैतन्य का जागरण तो नहीं, वरन् मूर्च्छा और आत्म-सम्मोहन की एक जड़ अवस्था उत्पन्न होती है। एकाग्रता के हठाग्रह से बेहोशी आ जाती है। इस बेहोशी को समाधि समझना भूल है। समाधि का अर्थ जड़ता या मूर्च्छा नहीं है। समाधि का अर्थ है परिपूर्ण चैतन्य का अनुभव।

समाधि=विचारशून्यता (Thoughtlessness) + पूर्ण चैतन्य (Consciousness) :

प्रश्न ५: ध्यान में श्वाँस प्रश्वाँस को हम किस भांति देखें ?

☆ रीढ़ को सीधा रखें। रीढ़ झुकी हुई न हो। रीढ़ की सीधा स्थिति में शरीर सहज साम्यावस्था में होता है। पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण (Gravitation)

उसपर सम प्रभाव डालता है और उसके भारसे मुक्त होने में आसानी होती है। गुरुत्वाकर्षण का भार कमसे कम हो तो शरीर शून्य होने में बाधा नहीं देता है।

रीढ को सीधा रखें पर शरीर पर कोई तनाव या अकड़ाव न हो। शरीर सहज शिथिल हो, जैसे किसी खुंटी पर कोई वस्त्र टँगा हो, ऐसा ही वह भी रीढ़ पर टँगा हो। शरीर को ढीला छोड दें।

फिर गहरी और धीमी श्वाँस लें। श्वाँस का आना जाना नाभि-केन्द्र को ऊपर नीचे आंदोलित करेगा। उस आंदोलन को देखते रहें। उस पर एकाग्रता नहीं करनी है। उसे केवल देखते रहना है। उसका मात्र साक्षी होना है। स्मरण रखें : मैं एकाग्रता को नहीं कह रहा हूँ। मैं केवल होश (Watchfulness) सजगता के लिये कह रहा हूँ।

श्वाँस भी ऐसे लें, जैसे छोटे बच्चे लेते हैं। उनका बक्ष:स्थल तो नहीं कंपता, पर पेट कंपता है। यही विधि नैसर्गिक श्वाँस-प्रश्वाँस की है। इसके परिणाम में शान्ति अपने आप सघन होती जाती है। चित्त-अशान्ति और तनावों के कारण हम श्वाँस पूरी लेना धीरे-धीरे भूल ही जाते हैं। युवा होते—होते कृत्रिम श्वांस —प्रश्वांस हमें पकड़ लेता है। यह तो आपने अनुभव किया ही होगा कि आपका मन जितना अशान्त होता है, उतनी ही श्वाँस प्रक्रिया अपनी सहजता और गतिबद्धता को खो देती है।

श्वाँस को नैसर्गिक रूप से लें. . . . . . लय बद्ध और सहज। उसके संगीत से चित्त—अशान्ति विलीन होने में सहायता मिलती है।

प्रश्न ६ : आप श्वाँस—प्रश्वाँस के दर्शन को क्यों कहते हैं ?

☆ इसलिये कहता हूँ कि श्वाँस —प्रश्वाँस , प्राण, ही शरीर और आत्मा के बीच सेतु है। उसी माध्यम से आत्मा शरीर में है। उसके प्रति जागने से . . . . श्वाँस प्रश्वाँस के प्रत्यक्ष से धीरे धीरे यह अनुभव होगा कि मैं शरीर नहीं हूँ। शरीर में हूँ पर शरीर ही नहीं हूँ। वह मेरा आवास है, मेरा आधार नहीं, श्वाँस-प्रश्वाँस का प्रत्यक्ष जैसे जैसे गहरायेगा , वैसे वैसे ही उसकी निकटता अनुभव होगी जो कि देह नहीं है। एक क्षण स्पष्ट दर्शन होगा : शरीर की और स्वयं की पृथक्ता का। तब तीन पर्तें व्यक्तित्व की ज्ञात होंगी : शरीर की, प्राण की व आत्मा की। **शरीर आवरण है, प्राण जोड है, आत्मा आधार है।**

साधना में प्राण सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि वह मध्य बिन्दु है। उसके इस पार शरीर है, उस पार आत्मा है। शरीर पर तो हम हैं ही। आत्मा

में होना है। **पर उसके पूर्व प्राण पर होना जरूरी है।** में संक्रमण हो सकता है।

प्राण पर जाग्रत होकर दोनों ओर देखा जा सकता है: रास्ता वहाँ पहुँचकर दोनों ओर का स्पष्ट हो जाता है। एक ही मार्ग है, पर दोनों दिशायें स्पष्ट हो जातीं हैं। फिर, प्राण के पीछे जाना सुगम हो जाता है। मैं समझता हूँ कि आप समझे होंगे कि मैं श्वाँस प्रश्वाँस पर जोर क्यों देता हूँ?

प्रश्न ७: आप ध्यान को अक्रिया क्यों कहते हैं? क्या वह भी एक क्रिया ही नहीं है?

☆ देखें। यह मैं मुट्ठी बाँधे हुये हूँ बाँधने में मुझे कुछ करना पड़ रहा है। बाँधना क्रिया है। लेकिन, यदि मैं मुट्ठी खोलना चाहूँ तो मुझे क्या करना होगा? खोलने के लिये मुझे कुछ भी नहीं करना होगा–**केवल, बाँधने के लिये जो प्रयास कर रहा हूँ, वह न करूँ तो मुट्ठी अपने आप खुल जायेगी।** वह अपनी स्वरूप स्थिति में पहुँच जायेगी। इसलिये मैं मुट्ठी खोलने को क्रिया नहीं कहूँगा। वह अक्रिया है या कि चाहे तो कहें कि नकारात्मक क्रिया (Negative Action) है। पर उससे भेद नहीं पड़ता है। वह एक ही बात है। शब्दों से मुझे आग्रह नहीं है। मेरी बात... मेरा भाव भर समझ लें। ध्यान को अक्रिया कहने का मेरा अर्थ है कि उसे आप काम न समझें ... उसे व्यस्तता न समझें.... **वह अव्यस्तता है।** वह सहजता है और आपको उसे कोई मानसिक तनाव नहीं बनाना है। वह भी एक मानसिक तनाव (Mental tension) हो... वह भी एक क्रिया हो... तो वह शान्ति में और स्वभाव में नहीं ले जाती है। तनाव तो स्वयं अशान्ति है। और, **शान्ति में जानेके लिये प्रथम ही शान्त होना आवश्यक है। शान्ति यदि प्रथम चरण में नहीं है, तो वह अंत में भी नहीं होगी। अंतिम प्रथम का ही विकास है।**

मैं लोगों को मंदिर जाते देखता हूँ: मैं उनको पूजा–आराधाना करते देखता हूँ: मैं उन्हें ध्यान में बैठे देखता हूँ .... पर यह सब उनके लिये क्रिया है .....एक तनाव है ... एक अशान्ति है, और फिर वे इस अशान्ति में शान्ति के फूल लगने की आशा करते हैं, तो भूल में हैं।

शान्ति चाहते हैं, शान्त होना चाहते हैं, तो इसी क्षण शान्ति से प्रारम्भ करना आवश्यक है।

परिशिष्ट—२

कुछ स्फुट विचार

सत्य को खोजें नहीं। खोजने में अहंकार (Ego) है। और अहंकार ही तो बाधा है। अपने को खो दें। मिट जावें। जब 'मैं' शून्य होता है, तब उसके दर्शन होते हैं, जो कि वस्तुतः मैं हूँ। **'मैं-भाव' मिटता है, तब 'मैं–सत्ता' मिलती है।** अपने को खोकर ही 'स्व' को पाना होता है। जैसे बीज जब अपने को तोड़ देता है, और मिटा देता है, तभी उसमें नवजीवन अंकुरित होता है, वैसे ही 'मैं' बीज है, वह आत्मा का बाह्य आवरण और खोल है, वह जब मिट जाता है तब अमृत जीवन के अंकुर का जन्म होता है।

इस सूत्र को स्मरण रखे: **पाना है तो मिटना होता है। मृत्यु के मूल्य पर अमृत मिलता है। बूंद जब स्वयं को सागर में खो देती है, तो वह सागर हो जाती है।**

मैं आत्मा हूँ पर अपने में खोजूं तो सिवाय वासना के और कुछ भी नहीं मिलता है। हमारा पूरा जीवन ही वासना है। वासना यानी कुछ होने की, कुछ पाने की अभीप्सा। प्रत्येक कुछ होना चाहता है. . . .कुछ पाना चाहता है। प्रतिक्षण यह दौड चल रही है। जो जहाँ है, वहाँ नहीं होना चाहता है। और जो जहाँ नहीं है, वहाँ होना चाहता है। **वासना यानी 'जो है' उससे एक अंधी–अतृप्ति और 'जो नहीं है' उसकी अंधी–आकांक्षा।** इस दौड का कोई अंत नहीं है, क्योंकि जैसे ही 'जो उपलब्ध होगा', वह व्यर्थ हो जायेगा, और आकांक्षा पुनः अनुपलब्ध पर केन्द्रित हो जायेगी। **वह सदा ही अनुपलब्ध के लिये है।**

वासना आकाश–क्षितिज की भ्राँति है . . . आप जितने उसके निकट पहुँचें, वह ठीक उतना ही पुनः आपसे दूर हो जाता है। यह इसलिये ही संभव

है, क्योंकि वह है ही नहीं, वह केवल प्रतीति (Appearance) है, भ्राँति है, सत्य नहीं है।

सत्य हो तो आपको उसके पास जाने से वह निकट होता है, असत्य हो तो मिट जाता है, न सत्य हो, न असत्य हो . . . भ्रान्ति हो . . . . . . स्वप्न हो . . . . . माया हो . . . . कल्पना हो, तो आप उसके कितने ही निकट जायें, उसकी दूरी वही की वही बनी रहती है।

असत्य, सत्य का विरोध है। भ्राँति, माया, विरोध नहीं, आवरण है। वासना आत्मा का विरोध नहीं, आवरण है . . . वह कुहासा है, धुआँ है जिसमें हमारी सत्ता छिपी है।

हम 'जो नहीं हैं' उसके लिये दौडते रहते हैं और इसलिये 'जो है' उसे नहीं देख पाते हैं।

वासना आत्मा पर पर्दा है . . . . और उसके कारण आत्मा का दर्शन नहीं हो पाता है। **मैं कुछ होना चाहता हूँ और इसलिये उसे देखता ही नहीं, जो मैं हूँ।**

एक क्षण को भी . . . यह होने की दौड़ और अभीप्सा न हो, तो 'जो है' वह प्रगट हो जाता है। एक क्षण को भी आकाश में बदलियाँ न हों . . . . तो सूरज प्रगट हो जाता है।

मैं इस 'होने की दौड़ के अभाव' को ही ध्यान कहता हूँ।

और, उस क्षण कितना आश्चर्य होता है, जब हम उसे जानते हैं, 'जो है' (That which IS) . . . . . . क्योंकि, उसमें वह सब मिल जाता है जिसके लिये कि अभीप्सा थी।

आत्मा का दर्शन वासना की पूर्ण तृप्ति है . . . . क्योंकि वहाँ कोई अभाव नहीं है।

विचार, अज्ञान का लक्षण है। **ज्ञान में विचार नहीं होता है . . . दर्शन होता है।** इसलिये, विचार का मार्ग ज्ञान तक नहीं ले जाता है। निर्विचार—चैतन्य ज्ञान का द्वार है।

ज्ञान उपलब्धि नहीं, अनावरण (Discovery) है। उसे पाना नहीं, उघाड़ना है । वह हममें नित्य उपस्थित है । उसे खोदना है । जैसे कोई कुआँ खोदता है...... वैसे ही उसे भी खोदना है । जलस्रोत मिट्टी......कंकड़ पत्थरों में दबे है । इन आवरणों को हटाते ही वे फूट पडेंगे ।

ज्ञान के जल स्रोतों पर में विचारों के कंकड पत्थरों को जमा हुआ देखता हूँ । इन्हें हटाते ही...... चैतन्य की अपरिसीम धारा उतलब्ध हो जाती है ।

अपने में कुआँ खोदो...... विचारोंकी पर्तों को अलग करो......'ध्यान' की कुदाली से....... सम्यक् स्मृति और सजग जागरूकता (Awareness)से विचार को निष्प्राण करो...... विचार की निर्जरा करो......और फिर आप जो जानोगे वह ज्ञान है ।

बिचार जहाँ नहीं हैं...... उस निर्धूम चेतना में ज्ञान है ।

मैं एकान्त में जाने को नहीं कहता हूँ । **मैं कहता हूँ अपने में एकान्त लाने को ।** स्थान बदलने से कुछ नहीं होता है...... परिवर्तन स्थिति में लाना है । परिस्थिति नहीं, मनःस्थिति केन्द्रीय और महत्वपूर्ण है ।

कोई एकान्त में जा सकता है...... पर यदि उसके भीतर एकान्त नहीं है, तो एकान्त में भी वह भीड़ में होगा...... क्योंकि उसके भीतर भीड़ होगी । मित्र, भीड़ बाहर नहीं है, वह भीतर है । हम भीतर भीड़ से घिरे हैं, इसलिये भीड़ से भागने से क्या होगा .... जो साथ हैं वे साथ ही चले जावेंगे ...... **भीड़ से भागना व्यर्थ है ... भीड़ को ही भीतर से विसर्जित करना सार्थक है ।**

इसलिये, एकान्त मत खोजो...... **एकान्त बनो । निर्जन में मत जाओ, अपने को निर्जन करो ।** जिस क्षण तुम अपने को भीतर ...... अपने निकट अकेलेपन में अनुभव करोगे, उस दिन जानोगे कि बाहर कोई भीड़ कभी भी नहीं थी ...... बाहर कोई संसार ही नही था.....वह सब भीतर था ।

शान्ति और शून्य से . . एकान्त से देखने पर संसार परमात्मा में परिणत हो जाता है, और जो कल तक मुझे घेरे थे......वह सब मै ही हो जाता हूँ...... मैं सब में हो जाता हूँ ।

किसी ऐसे ही क्षण में कोई बोला होगा : 'अहं ब्रह्मास्मि ।'

सदियों की धूल हमारे मन पर है । मरम्परा‌ओं और रुढियों और अंध-विश्वासों ने हमे वैसे ही घेर रखा है, जैसे किसी खंड़हर को ...... जैसे किसी अवासित भवन को अंधेरे के वासी पक्षी घेर लेते हैं और मकड़े-मकडियाँ अपने जालों से भर देते हैं । हम ऐसे ही उन विचारों से भरे हैं, जो दूसरे हमें दे देते हैं । ये दूसरों के द्वारा सत्य के, परमात्मा के संबंध में दिये विचार बहुत बडी बाधायें हैं । इनके कारण हम स्वयं जानने से वंचित रह जाते हैं......और स्वयं की खोज का वह आन्दोलन जो हमारे प्रसुप्त चेतन को जगा दे, हममें कभी प्रवर्तित नहीं हो पाता है ।

इससे पूर्व कि कोई सत्य को स्वयं जाने, उसे दूसरों से लिये उधार ज्ञान से मुक्त हो जाना जरूरी है। दूसरों से पाये...परम्परासे पाये ज्ञान को धूल की भाँति दूर हटा दें...... उससे एक निर्मलता का उदय होगा...... और सत्य और स्वयं के बीच कोई परदा नहीं रह जायेगा । विचारों की भीड़ दीवार की भाँति बीच में खड़ी रहती हैं ।

सत्य के संबंध में जानना, और सत्य को जानने मे जमीन आसमान का भेद है । एक उधारऔर मृत-ज्ञान का बंधन है, दूसरा स्व अनुभूति का मुक्त आकाश है । एक उड़ान की सारी क्षमता छीन लेता है, दूसरा वे पंख देता है जो परमात्मा तक ले जा सकते हैं ।

इसलिये, मैं शून्य की बात कहता हूँ । वह विचार-भार को छीन लेता है........वैसे ही जैसे कोई पर्वत पर चढ़ता है तो उसे अपना सारा भार नीचे मैदानों में छोड़ देना होता है । वैसी ही चड़ाई सत्य की भी है । **पर्वतारोही जितना निर्भार होगा उतने ही ऊँचे पर्वतों पर उसके चरण पहुँच सकते हैं . . . और सत्यारोही भी जितना शून्य होता है, जितना निर्भार होता है, उतनी ही ऊँचाइयाँ उसका आवास हो जाती हैं ।**

परमात्मा तक .... उस अंतिम ऊँचाई तक... जिन्हें पहुँचना है, उन्हे उस अंतिम शून्य तक पहुँचना आवश्यक है, जहाँ उनका होना (Being), न होना (Non Being) हो जाता है।

शून्य की गहराई में पूर्ण की ऊँचाई का जन्म होता है और असत्ता में सत्ता के संगीत की उत्पत्ति होती है, और तब ज्ञात होता है कि निर्वाण ही ब्रह्मोपलब्धि है।

सत्य अज्ञात है, तो उसे उन विचारों से कैसे जाना जा सकता है जो कि ज्ञात हैं ? यह चेष्टा तो बिल्कुल ही अर्थहीन है। **ज्ञात (Known) से अज्ञात (Unknown) तक कोई मार्ग नहीं है** ज्ञात अज्ञात में नहीं ले जा सकता है। यह न तर्क्य है, न संभव है। ज्ञात, ज्ञात की परिधि में ही घूम सकता है। जो मुझे ज्ञात है, उसके माध्यम से मैं कितनी भी चिन्तना करूँ, उसके बाहर और उसके ऊपर नहीं उठ सकता हूँ। वह कोल्हू के बैल की भाँति गति तो है..... पर चक्रीय गति है, और उसी राह पर बार बार घुमाती है, पर कहीं पहुँचाती नहीं है।

इसलिये आज तक विचार से कोई भी सत्य तक नहीं पहुँचा है। जो पहुँचे हैं, वे किसी और द्वार से पहुँचे हैं। मैं महावीर, लाओत्से, बुद्ध या जीसस को विचारक नहीं कहता हूँ। उनकी कोई भी उपलब्धि विचार से नहीं है। फिर वे कैसे पहुँचे ? वे, विचार से चलकर नहीं, विचार से छलाँग लेकर पहुँचे। **ज्ञात की लीक पकड़कर अज्ञात पर नहीं जाया जा सकता है, पर ज्ञात से छलाँग अज्ञात में ले जाती है।** । इस 'छलाँग' शब्द के अर्थ को समझ लें। इस 'छलाँग' को समझ लें। वह आपको भी लेनी है।

विचार पर हम हैं...... उन पर हम खड़े हैं, उनमें हम जी रहे हैं। उनसे निर्विचार में कूदना है......उनसे 'छलाँग' लेनी है, उसमें–जहाँ बस मौन है। शब्द (Sound) **से शून्य (Silence) में कूद जाना है।**

क्या यह 'छलाँग' के सम्बन्ध में विचार करने से होगा ...... क्या आप सोचेंगे कि छलाँग कैसे लें ? नहीं, वह तो पुनः विचार के कोल्हू में ही जुत जाना है। उससे गति नहीं है।

सोचें नहीं, जागें। विचार प्रक्रिया के प्रति जागें। विचार की चक्रीय गति को देखें।..... **बस देखें, और देखते ही देखते अनायास किसी क्षण में छलांग लग जाती है, और आप अपने को अतल शून्य में पाते हैं।** ज्ञात के किनारे से छूट भर जावें, फिर आपकी नौका सहज ही अज्ञात के सागर में अपने पालों को खोल लेती है।

और वह बहना.....अज्ञात में बहे जाना.....कैसा आनन्द है? कैसे कहूँ?

अशान्ति देखने नहीं देती है। उससे भरी आँखें देख नहीं पाती हैं...... फिर चाहे वे आसुओं से भरी हों, चाहे मुस्कराहटों से। भरी आँख सत्य को नहीं देख सकती है। उसके लिये खाली और रिक्त आँख चाहिये **ऐसी आँख, जो दर्पण की भाँति हो, जिसमें स्वयं में कुछ भी नहीं है...वह उसे देख लेती है, जो कि 'सब कुछ' है।**

एक गाँव की बात है। कोई मुझ से पूछता था कि प्रभु को कैसे खोजा जाये। मैंने कहा: क्या आपने स्वयं को पा लिया है जो आप अब परमात्मा को खोजने निकले हैं?

परमात्मा को हम जानना चाहते हैं, और आत्मा को भी जानते नहीं हैं? जो सबसे निकट है, वह तक भी ज्ञात नहीं है?

स्वयं से अधिक निकट और कोई सत्ता नहीं है, इसलिये अज्ञान सर्व-प्रथम वहीं टूट सकता और पराजित हो सकता है। और जो वहाँ अज्ञान में है, वह किसी भी तल पर ज्ञान में नहीं हो सकता है।

ज्ञान की प्रथम ज्योति अंतस् में ही जागती है। वही ज्ञान की प्राची है......वहीं से ज्ञान का सूर्योदय होता है। वहाँ अंधेरा है, तो स्मरण रहे कि प्रकाश कहीं भी नहीं हो सकता है।

परमात्मा को नहीं, स्वयं को जानो.....वही ज्योति-कण अंत में सूर्य में परिणत हो जाता है। स्वयं को जानकर ही जाना जाता है कि वहाँ सत्ता

तो है, चैतन्य तो है, आनन्द तो है. . . सच्चिदानन्द तो है, पर 'मैं' नहीं है । यह अनुभव ही परमात्मा का अनुभव है ।

'मैं'—मुक्त आत्मा जीव है. . . यही अज्ञान है।

'मैं'—मुक्त आत्मा परमात्मा है. . . . यही ज्ञान है ।

आत्मा को खोजने कहाँ जा रहे हो ? वह दसों दिशाओंमें कहीं भी नहीं है । पर एक ग्यारवीं दिशा भी है....... क्या आपको उसका पता है ? मैं उस ग्यारवीं दिशा को ही बताता हूँ ।

वह ग्यारवीं दिशा आप स्वयं हो । दशों दिशायें छोड दी जावें तो उस ग्यारवीं में पहुँचना होता है । वह ग्यारवीं दिशा दस दिशाओं जैसी ही नहीं है । वस्तुतः तो वह दिशा (Direction) ही नही है । वह तो अदिशा है । वह कहीं ले जाती नहीं हैं, पर वहाँ पहुँचाती है, जहाँ से स्वयं का कभी भी कहीं जाना नहीं हुआ है । वह स्वरूप है । वह स्व-अवस्था है ।

दसों दिशायें बाहर जातीं हैं । उनसे जो निर्मित है वही जगत है । दस दिशायें ही जगत है । वे ही आकाश (Space) हैं ।

पर, इन दसों दिशाओं को जो जानता और दसों में जो गति करता है, वह इनसे निश्चित ही पृथक है, अन्यथा न वह इन्हें जान सकता था, और न इनमें गतिवान हो सकता था ।

वह गति करता है फिर भी गति नहीं करता है, क्योंकि यदि वह अपनी स्वयं-सत्ता में थिर नहो, तो वह गति भी नहीं कर सकता है । उसकी समस्त गति के केन्द्र में अगति है । उसके समस्त परिवर्तन चक्र के बीच में ध्रुवता है । गाडी के चाकों को देखा है ? चाक घूम पाते हैं क्योंकि उनकी कील नहीं घूमती है । **सदा ही कोई ध्रुव अध्रुव को थामे हुये है ।**

अध्रुव जीवन है...... ध्रुव आत्मा है ।

यह आत्मा ग्यारवीं दिशा है । इसे खोजने कहीं नहीं जाना है । इसे खोजने ही नहीं जाना है । सब खोज......सब खोजना छोड़कर देखो कि भीतर कौन है ? उसके प्रति जागो...... 'जो है' ।

यह अखोज से ही होगा । **यह दौडने से नहीं, रुकने से होगा । रुको और देखो** (Stop and see) । इन दो शब्दों में ही सारा धर्म है. ... सारी साधना है....... सारा योग है ।

रुको और देखो...... और ग्यारवीं दिशा खुल जाती है । उससे आंतरिक आकाश में प्रवेश होता है । उस आंतरिक आकाश ((Inner Space) का नाम ही आत्मा है । मैं देख रहा हूँ कि आप दौड़े चले जा रहे हैं ।......और सब दौड़ के अंत में गिर पडने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । क्या रोज आप लोगों को गिर पड़ते नहीं देखते हैं । क्या सब दौड़ों का अंतिम परिणाम वही नहीं है ? क्या हर दौड़ के अंत में मृत्यु नहीं लिखा हुआ है ?

पर जो इस सत्य को पहले ही पढ़ लेते हैं...... वे उससे बच जाते हैं ।

मैं चाहता हूँ कि आप रुकें और देखें । क्या आप रुकेंगे और देखेंगे ? क्या मेरी पुकार आपको अपनी दौड़ की मूर्च्छा में सुनाई पड़ती है ?

रुकें . . और देखें कि वह कौन है जो दौड़ रहा है । रुकें . . . और देखें कि वह कौन है जो खोज रहा है ? रुकें. . . . और देखें कि वह कौन है जो मैं हूँ ।

और, दौड के उत्ताप (Fever)) के जाते ही दसों दिशाएं विलीन हो जाती हैं, और वह एक ही दिशा रह जाती है, जो कि दिशा नहीं है । वह वहाँ ले जाती है. . . . जो कि मूल है, जो कि उद्‌गम है, जो कि उत्स है ।

कोई साधु लोगों से कहता था कि जन्म के पूर्व आप कैसे थे........ बताइयेगा ? वह साधु यदि आपको मिल जाये तो आप उसे क्या कहेंगे ? जानते हैं कि जन्म के पूर्व कैसे थे ?.... जानते हैं कि मृत्यु के बाद कैसे होंगे ? पर यदि रुकना और देखना आ जावे तो आप वह जान सकते हैं । **वह जो जन्म के पूर्व था . . . और मृत्यु के पश्चात भी होगा. . . वह अभी इस क्षण भी भीतर है. . . बस थोडा मुडकर देखने भर की बात है ।**

रुकिये और देखिये । मैं इस अद्‌भुत लोक में चलने का आमंत्रण देता हूँ ।

---

५ जून १९६४

मित्र, स्वयं से लडना नहीं, स्वयं को जानना है। स्व-अज्ञान के कारण जो असंगतियां और स्वविरोध हममें पैदा हुये है, वे स्व-ज्ञान के प्रकाश में वैसे ही वाष्पीभूत हो जावेंगे, जैसे सुबह सूरज के निकलने पर दूब पर जमे ओसकण विलीन हो जाते हैं।

"मैं आपकी जिज्ञासा और उत्सुकता को समझ रहा हूँ। आप सत्य को जानने और समझने को उत्सुक हैं। जीवन के रहस्य को आप खोलना चाहते हैं ताकि जीवन उपलब्ध हो सके। अभी तो जिसे हम जीवन कहते हैं, वह कोई जीवन नहीं है। वह तो मृत्यु की एक लंबी क्रिया ही कही जा सकती है।

यह ठीक ही है कि जीवन को जाने बिना जीवन प्राप्त नहीं होता है। **जन्म एक बात है, जीवन बिल्कुल दूसरी बात है।** जी लेना और जीवन-उपलब्धि में बहुत भेद है। वह भेद उतना ही है जितना कि मृत्यु और अमृत में है। जी लेने की परिसमाप्ति मृत्यु में है : जीवन की पूर्णता और पूर्ण जीवन.... ब्रह्म-जीवन....... दिव्य-जीवन में है।

दिव्य-जीवन में जो उत्सुक होते हैं, और जो सत्य और ईश्वर को जानना चाहते हैं, उनके लिये मेरी दृष्टि में साधना की दो दिशायें प्रतीत होती हैं। दो मार्ग प्रतीत होते हैं,....... एक दिशा नीति की है, दूसरी दिशा धर्म की है। साधरणत: नीति और धर्म को दो मार्ग नहीं माना जाता है। वे एक ही मार्ग की दो सीढ़ियाँ समझी जाती हैं। नैतिक होकर ही व्यक्ति धार्मिक हो पाता है, ऐसा विश्वास है। पर मेरा ऐसा देखना नहीं है। जो मैंने जाना है, वह मैं आपसे कहना चाहता हूँ। मैं ऐसा तो नहीं देख पाता हूँ कि नैतिक व्यक्ति धार्मिक होता है, यद्यपि यह जरूर सच है कि धार्मिक व्यक्ति अनिवार्यत: सहज ही नैतिक अवश्य होता है। नैतिक होने से ही कोई धार्मिक नहीं हो जाता है। और न ही नीति धार्मिक होने का प्रारम्भ या भूमिका है : विपरीत वह तो धार्मिक होने का परिणाम (Consequence) है। धार्मिक जीवन में नीति के फूल लगते हैं, वे धर्म जीवन की अभिव्यक्तियाँ हैं।

मैं नीति और धर्म की दिशाओं को भिन्न मानता हूँ.....भिन्न ही नहीं, विपरीत मानता हूँ। क्यों मानता हूँ उसे समझाना चाहता हूँ। नीति-साधना

का अर्थ है : आचरण-शुद्धि, व्यवहार-शुद्धि । **वह व्यक्तित्व की परिधि को बदलने का प्रयास है ।** व्यक्तित्व की परिधि...... मेरा दूसरों से जो संबंध है.........उससे निर्मित होती है । वह दूसरों से मेरा व्यवहार है । मैं दूसरोंके साथ कैसा हूँ.....वही मेरा आचरण है । आरचरण यानी सम्बन्ध (Relationship) । मैं अकेला नहीं हूँ । मैं अपने चारों ओर अन्य लोगों से घिरा हूँ । मैं समाज में हूँ और इसलिये प्रतिक्षण किसी न किसी से संबंधित हूँ । यह अंतर्सम्बन्ध ही जीवन मालूम होता है । मेरे संबंध शुभ हैं तो मेरा आचरण सद् है....और मेरे सम्बन्ध अशुभ हैं तो मेरा आचरण असद् है । सदाचरण की हमें शिक्षा दी जाती है । वह समाज के लिये आवश्यक है । वह एक सामाजिक आवश्यकता है । समाज को आपसे...... आपकी निपट निजता में कोई प्रयोजन नहीं है । उस दृष्टि से आप न भी हों तो भी समाज को कोई अर्थ नहीं है । समाज के लिये आप उसी क्षण महत्वपूर्ण हैं, जब आप किसी से संबधित होते हैं । समाज के लिये आप नहीं........ आपका व्यवहार ही मूल्यवान है..... आप नहीं, आपके आचरणही अर्थपूर्ण है । इसलिये समाज की शिक्षा सदाचरण की है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है । मनुष्य उसके लिये आचरण से ज्यादा नहीं है ।

पर, समाज की सदाचरण की यह शिक्षा. . .....नैतिक होने का आदेश एक भ्राँति पैदा करता है । एक बहुत आधारभूत भ्राँति का इससे जन्म हुआ है । स्वाभाविक ही जो प्रभु में और धर्म में उत्सुक होते हैं, वे सोचते हैं कि सत्य को पाने को सद् होना आवश्यक है । सदाचरण की भूमिका में ही; प्रभु-अनुभूति संभव होगी । सत्य के आगमन के पूर्व शुभ होना होगा । धर्मानुभूति नैतिक जीवन से ही निकलेगी और विकसित होगी । नीति आधार है, धर्म शिखर होगा । नीति बीज है : धर्म फल होगा । नीति कारण (Cause) है, धर्म कार्य (Effect) होगा । यह विचार-सरिणी कैसी स्पष्ट और सम्यक् प्रतीत होती है ? पर मैं कहना चाहता हूँ कि यह सरल और सुस्पष्ट दीखनेवाली विचार-सरिणी बिल्कुल ही भ्राँत है । यह वस्तुस्थिति को बिल्कुल उलटा करके देखना है । सत्य कुछ और ही है ।

नीति की दिशा किसी व्यक्ति को वस्तुतः तो नैतिक भी नहीं बना पाती है, धार्मिक बनाने का तो प्रश्न ही नहीं है । व्यक्ति उससे केवल सामाजिक

बन सकता है, और सामाजिक को नैतिक समझ लिया जाता है ।। आचरण मात्र ठीक होने से कोई वस्तुतः नैतिक नहीं होता है । उस क्रान्ति के लिये अंतस् का परिशुद्ध होना आवश्यक है ।

अंतस् को बदले बिना आचरण नहीं बदल सकता है । केन्द्र को, मूल को बदले बिना, परिधि को बदलने का प्रयास केवल एक निरर्थक स्वप्न है । वह प्रयास मात्र व्यर्थ ही नहीं, घातक भी है । वह आत्म-हिंसा है । ऐसी चेष्टा अपने ऊपर जबरदस्ती आरोपण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । इस दमन में समाज की उपयोगिता तो सध जाती है, पर व्यक्ति टूट जाता और खंडित हो जाता है । उसके भीतर द्वैत पैदा हो जाता है । उसका व्यक्तित्व सहजता और सरलता खोकर एक अंतर्द्वन्द्व (Conflict) बन जाता है । ......एक सतत संघर्ष .....एक अंतहीन अंतर्युद्ध.. जिसके अंत में विजय कभी नहीं आती है । यह व्यक्ति के मूल्य पर सामाजिक उपयोगिता को पूरा कर लेना है । इसे मैं समाजिक हिंसा कहता हूँ ।

मनुष्य के आचरण में जो कुछ प्रगट होता है, वह महत्वपूर्ण नहीं है । महत्वपूर्ण अंतस् के वे कारण हैं, जिनकी वजह से वह प्रगट होता है । आचरण अंतस् की सूचना है, मूल वह नहीं है । आचरण अंतस् का बाह्य प्रकाशन है । और वे लोग नासमझ हैं, जो प्रकाशक को बदले बिना प्रकाशन को बदलने की आकांक्षा करते हैं । उस तरह की साधना व्यर्थ है । वह कभी फलवती नहीं होगी – वह ऐसे ही है जैसे कोई किसी वृक्ष की शाखाओं को छाँटकर उसे नष्ट करना चाहता हो. . . .उससे वृक्ष नष्ट तो नहीं, और सघन अवश्य हो सकता है । वृक्ष के प्राण शाखाओं में नहीं हैं । वे तो जड़ों में हैं . . . .उन जड़ों में जो कि भूमि के अंतर्गत हैं और दिखाई नहीं पडती हैं । उन जड़ों की प्रसुप्त आकांक्षायें ही वृक्ष के रूप में प्रगट हुई हैं . . . .उन जड़ों की आकांक्षाओं और वासनाओं ने ही शाखाओं का रूप लिया है । शाखाओं के छाँटने से क्या होगा ? . . वस्तुतः ही यदि जीवन क्रान्ति चाहते हैं, तो जडों तक चलना जरूरी है ।

मनुष्य के आचरण की जड़ें (Roots) अंतस् में हैं । आचरण अंतस् का अनुगामी है, उसका अग्रगामी नहीं । इसलिये आचरण को बदलने का प्रयत्न दमन (Suppression) के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? और

दमन क्या कोई परिवर्तन ला सकता है? दमन का क्या अर्थ है? दमन का अर्थ है, जो हमारे अंतस् से सहज उठता है उसे उठने न दें, और जो नहीं उठता है उसे बल पूर्वक उठावें और प्रगट करें। जो हम दबा देंगे वह कहाँ जायेगा? क्या हम उससे मुक्त हो जावेंगे? दमन से मुक्ति कैसे आयेगी? वह तो हमारे भीतर ही बना रहेगा? यद्यपि अब उसे अपने जीवन के लिये और गहरे, अंधेरे और अचेतन (Unconscious) तल खोजने पडेंगे। वह और गहरी गहराईयों में प्रविष्ट हो जायेगा। वह वहाँ छिप रहेगा जहाँ हमारी दमन की चेतन आँखें उसे खोज न पावें। पर, गहरी बैठ गई इन जड़ों के अंकुर तो फूटते ही रहेंगे ....शाखायें तो पल्लवित होती ही रहेंगी....और तब हमारे चेतन (Conscious) और अचेतन (unconscious) के मध्य एक ऐसे संघर्ष की शुरूआत हो जायेगी जिसकी परिसमाप्ति केवल विक्षिप्तता में ही हो सकती हैं। विक्षिप्तता, हमारी तथाकथित और थोथी नैतिकता पर खड़ी सभ्यता का परिणाम है। इसलिये, जितनी सभ्यता (Civilization) बड़ती है, उतनी ही विक्षिप्तता बढती जाती है ....और यह हो सकता है कि एक दिन हमारी पूरी सभ्यता विक्षिप्तता में परिणित हो जावे। विगत दो महायुद्ध इसी तरह की विक्षिप्ततायें (Madness) थे...और अब तीसरे और अंतिम की तैयारी चल रही है!

मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में जो विस्फोट होते हैं वे...और सामूहिक जीवन में भी हिंसा, बलात्कार, अनैतिकता और पाशविकता के जो विस्फोट होते हैं, वे सभी दमन के परिणाम हैं। दमन के कारण मनुष्य सहज और सरल नहीं हो पाता हैं। फिर दमन का तनाव एक दिन उसे तोड़ ही देता है।

हाँ, वे जरूर इस अंतर्द्वन्द्व से बच जाते हैं, जो पाखन्ड (Hypocracy) को अंगीकार कर लेते हैं। जो होते कुछ हैं और दिखाते कुछ हैं, और जो अपने भीतर किसी संघर्ष में नहीं, केवल बाहर अभिनय में होते हैं **पाखन्ड का जन्म भी दमन आधारित नैतिकता से होता है। वह भी तथाकथित नीति का ही पुत्र है।** वह अंतर्द्वन्द्व से बचने का उपाय है। मैंने कहा कि इस तथाकथित नैतिक जीवन में जो अंतस् से सहज उठता है उसे हम उठने नहीं देते हैं, और जो

नहीं उठता है उसे प्रगट करते हैं. . . .इसमें पहली प्रक्रिया से दमन आता है और दूसरी प्रक्रिया से पाखन्ड आता है। पहली प्रक्रिया का अंतिम परिणाम पागल है और दूसरी प्रक्रिया का अंतिम परिणाम पाखन्डी है। ये दोनों ही परिणाम अच्छे नहीं हैं. . .और दोनों में से कोई भी चुनने जैसा नहीं है। पर हमारी सभ्यता ये दो ही विकल्प उपस्थित करती है।

हाँ, एक तीसरा विकल्प भी है। वह है पशु जैसे होने का। अपराधी का जन्म उस विकल्प से होता है। उससे हम बचना चाहते हैं. . . .पशु होने से बचना चाहते हैं. . . .तो हमारी सभ्यता उपरोक्त दो विकल्प देती है। **पशु होने का अर्थ है. . .अपने को अचेतन प्रवृत्तियों (Tnstincts) के हाथ में पूर्णतया सौंप देना। यह भी असंभव है, क्योंकि जो अंश मनुष्य में चेतन हो गया है, वह अचेतन नहीं हो सकता है।** नशे में हम उसी अचेतना को खोजते हैं, नशे की तलाश . . .पशु होने की आकांक्षा का प्रतीक है। पूर्ण बेहोशी में ही मनुष्य प्रकृति के बिल्कुल, पशु के बिल्कुल अनुकूल हो सकता है। पर वह तो मृत्यु के ही तुल्य है। यह सत्य विचारणीय है . . .बहुत विचारणीय है . . . .मनुष्य बेहोशी में पशु कैसे हो जाता है? और उसे पशु होना हो तो बेहोशी की खोज क्यों करता है ? **यह सत्य इस बात की सूचना है कि मनुष्य में जो चेतना है, वह पशु जगत का अंश नहीं है, वह प्रकृति का अंश नहीं है। चेतना प्रभु का अंश है। वह आत्मा की भावी संभावना है। वह बीज है जिसे मिटाना नहीं, बढाना है। उसकी पूर्णता पर ही पूर्ण स्वतंत्रता, मुक्ति और आनन्द संभव है ?**

फिर हम क्या करें? हमारी सभ्यता तीन विकल्प देती है: पशु का विकल्प , पागल का विकल्प, पाखन्ड का विकल्प। क्या कोई चौथा विकल्प भी है ?

मैं उस चौथे विकल्प को ही धर्म कहता हूँ। वह पशु का, पागल का, पाखन्ड का नहीं, प्रज्ञा का मार्ग है। वह भोग का, दमन का, मिथ्याभिनय का नहीं, वास्तविक जीवन और ज्ञान का मार्ग है। उसके परिणाम में सदाचरण के फूल लगते हैं . . .उसके परिणाम में व्यक्ति का पशु विसर्जित होता है,

अचेतन वासनाओं का दमन नहीं, उनसे मुक्ति होती है, और सदाचरण का अभिनय नहीं, वास्तविक जीवन पैदा होता है। वह किसी आवरण को, आचरण को ओढ़ना नहीं है. . . . वह अंतस् की क्रान्ति है। वह समाज का नहीं स्वयं का समाधान है। वह हमारे संबंधों को नहीं, स्वयं हमें बदल देता है और तब संबंध तो अपने आप बदल जाते हैं। वह हमारी निपट निजता में. . . वह जो मैं अपने आप में हूँ. . . वहाँ क्रान्ति ला देता है। . . . . और तब शेष सब अपने आप परिवर्तित हो जाता है।

नीति सामाजिक है : धर्म नितान्त वैयक्तिक है।

नीति आचरण है : धर्म अंतस् है।

नीति परिधि है : धर्म केन्द्र है।

नीति व्यक्तित्व (Personality) है : धर्म आत्मा है।

नीति के आने से तो धर्म नहीं आता है, पर धर्म के आने से नीति अवश्य आ जाती है। नीति के आने से नीति ही नहीं आती है, तो धर्म कैसे आ सकता है ?

नीति दमन से . . . . आरोपण से प्रारम्भ होती है। धर्म ज्ञान से प्रारम्भ होता है।

जीवन में अशुभता है, अशुद्धि है, असद् है. . . इस स्थिति की मूल जड़ों को जानना होता है। यह अशुभ कहाँ और कैसे जन्म पाता है ? मेरे भीतर कौनसा केन्द्र है. . . . जहाँ से विष उठते हैं और मेरे आचरण को विषाक्त कर देते हैं? मैं शुभ का विचार करता हूँ, पर मेरे सारे विचारों को हटाकर अशुभ मुझे . . . . मेरे व्यवहार और जीवन को क्यों घेर लेता है ? वह वासना–शक्ति मेरे विचारों को निरंतर क्यों पराजित कर देती है ?

यह स्वयं ही निरीक्षण करना होता है : दूसरों के उधार निष्कर्ष किसी काम नहीं आते हैं, क्योंकि निरीक्षण में ही, स्वयं के निरीक्षण में ही, निरीक्षण से ही, उस शक्ति और ऊर्जा का जन्म होता है, जो उस केन्द्र को विघटित कर देती है, जहाँ से अशुभ जन्म और पोषण पाता है। यह सतत् निरीक्षण स्वयं ही साधना होता है, क्यों कि वह अशुभ को जानने की विधि (Method) मात्र ही नहीं है, वह निराकरण भी है। मैं जो

भीतर हूँ . . . . जो मेरा अचेतन अंतस् है . . . उसके निरीक्षण से, उसके प्रति सजग और जागरूक होने से मेरे अंधेरे तलों में प्रकाश पहुँचता है . . . . और वह प्रकाश मेरे आचरण के मूल केन्द्रों और जड़ों को ही मुझे नहीं दिखाता है, वह उन्हें परिवर्तित करने लगता है। यह बहुत ध्यान देने का सूत्र है। **निरीक्षण से ज्ञान ही नहीं होता है, परिवर्तन भी होता है। असल में, निरी-क्षण ज्ञान लाता है और ज्ञान से परिवर्तन आता है। ज्ञान ही क्रान्ति . . . . जीवन क्रान्ति (Transformation) है।**

यह ऐसे ही है जैसे मैं किसी वृक्ष की जड़ों को जानने को भूमि को खोदूँ . . . . और सारी जड़ों को प्रकाश में ले जाऊँ . . . . इससे मैं जड़ों से तो परिचित हो ही जाऊँगा . . . **लेकिन साथ ही, भूमि के अंधेरे को छोड़ने . . . और भूमि से पृथक होने के कारण, वे जडें मर भी जायेंगी।**—यहाँ मैं उनका निरीक्षण करूँगा और वहाँ उनकी शाखायें कुम्हला जायेंगी . . . . . . **निरीक्षण वासना की.जडों की मृत्यु बन सकता है। प्रकाश को वे नहीं सह पाती हैं। अशुभ ज्ञान को नहीं सह पाता है।** शायद, सुकरात ने जो कहाँ है कि ज्ञान ही शुभ है (Knowledge is virtue) . . . उसका कोई और अर्थ नहीं है।

मैं भी यही कहता हूँ : ज्ञान शुभ है: अज्ञान अशुभ है। प्रकाश नीति है, अंधकार अनीति है। निरीक्षण . . . सतत् निरीक्षण . . . . स्वयं का, स्वयं की अचेतन वृत्तियों का . . . . चैतन्य को जगाता है और चेतना को अचेतन मन में प्रवेश मिलता है। अचेतन . . . . मूर्च्छा . . . बेहोशी . . . नशा . . . प्रमत्तता . . . . इनसे चेतन में प्रवेश और चेतन पर अधिकार करता है। यह हमने देखा कि पशु प्रवृत्तियाँ (animal instincts) मूर्च्छा में ही संभव होती हैं। क्रोध या काम (sex) मूर्च्छा में ही हमें पकडते हैं, और इसीलिये पशु जैसी वृत्तियों की तृप्ति के लिये मादक द्रव्य (Intoxicants) सहयोगी हो जाते हैं।

चेतना अमूर्च्छा से, अप्रमत्तता से, सजगता और जागरूकता से अचेतन मन में प्रदेश और अधिकार करती है। जितनी जागरुकता आती हैं, होश आता है अपनी वृत्तियों और क्रियायों, वास-

नाओं और विकारों का निरीक्षण और सम्यक् स्मरण आता है . . . उतने ही हम चैतन्य से भरते जाते हैं और वे वेग . . . वे प्रभाव...वे अंधे-अचेतन धक्के . . . हममें अपने आप कम होते जाते है . . . जिनके जीवन और अस्तित्व के लिये मूर्च्छा और निद्रा बेहोशी आवश्यक है . . . जो कि बेहोशी के अभाव हो ही नहीं सकते हैं ।

यह स्मरण रहे कि आज तक किसी मनुष्य ने होश में कुछ भी बुरा नहीं किया है । सब पाप मूर्च्छा है और मूर्च्छा में हैं । मेरी दृष्टि में तो केवल मूर्च्छा ही पाप है । निरीक्षण मूर्च्छा को तोडता है । और इसलिये हम समझें कि निरीक्षण क्या है और कैसे संभव है ?

स्व–निरीक्षण (self-observation) क्या है ?

मैं शान्त बैठ जाऊँ. . . जैसा मैंने सम्यक् स्मृति के लिये कल ही समझाया है . . . और अपने भीतर जो भी होता है, उसे देखूं । वासनाओं, विचारों का एक जगत् भीतर है । मैं उसका निरीक्षण करूं . . . . मैं उसे ऐसे ही देखूं, जैसे कोई सागरतट पर खडा हो, सागर की लहरों को देखता है । कृष्णमूर्ति ने इसे निर्विकल्प सजगता (Choiceless Awareness) कहा है । यह बिल्कुल तटस्थ निरीक्षण है । तटस्थ होना बहुत जरूरी । तटस्थ का अर्थ है कि मैं कोई चुनाव न करूँ. . . . न कोई निर्णय करूँ । न किसी वासना को बुरा कहूँ, न भला कहूँ । शुभ-अशुभका निर्णय न करूँ । बस देखूं । जो हैं, उसका मात्र साक्षी बनूं. . . . जैसे मैं दूर खडा हूँ, पृथक हूँ और जानने . . देखने के अतिरिक्त मेरा कोई प्रयोजन नहीं है । जैसे ही प्रयोजन आता है, जैसे ही चुनाव आता है, जैसे ही निर्णय आता है. . . वैसे ही निरीक्षण बन्द हो जाता है । मैं फिर निरीक्षण नहीं करता, विचार करता हूँ । विचार और निरीक्षण का यह भेद समझ लें । विचार नहीं करना है । विचार चेतन की, चेतन के भीतर ही क्रिया है । निरीक्षण चेतन के द्वारा अचेतन में प्रवेश है । और जैसे ही विचार आया, शुभ-अशुभ का भेद आया, सूक्ष्म दमन प्रारम्भ हो जाता है। अचेतन तब अपने द्वार बन्द कर लेता है और हम उसके रहस्यों से परिचित होने से वंचित हो जाते हैं। अचेतन अपने रहस्य

विचार को नहीं, निरीक्षण को खोलता है. . . क्योंकि दमनके अभाव में उसके वेग और वृत्तियाँ सहजता से ऊपर आ जाते हैं . . अपनी पूरी नग्नता मेंऔर अपनी पूरी सचाई में. . और उन वेगों और वृत्तियों और वासनाओं को वस्त्र पहनने की आवश्यकता नहीं रहती है। अचेतन नग्न और निर्वस्त्र सामने आ जाता है। और तब कैसी घबडाहट होती है? . . . . अपने ही भीतर के इस रूप को देखकर कैसा डर लगता है ? . . . . . . आँखें बन्द कर लेने का मन होता है और गहराई के इस निरीक्षण को छोड़ फिर वापस सतह पर लौट जाने की आकांक्षा आती है। इस समय धैर्य और शान्ति की परीक्षा होती है। मैं इस क्षण को ही तप का क्षण कहता हूँ । जो इस क्षण को साहस और शान्ति से पार कर लेते हैं, वे एक अद्भुत रहस्य के और ज्ञान के धनी हो जाते हैं। वे वासनाओं की जड़ों को देख लेते हैं : वे अचेतन की केन्द्र–भूमि में प्रविष्ट हो जाते हैं और यह प्रवेश अपने साथ एक अलौकिक मुक्ति लाता है।

सम्यक् ध्यान से निरीक्षण, निरीक्षण से ज्ञान, ज्ञान से मुक्ति। यह मार्ग है। यह धर्म का मार्ग है। यह योग है। मैं चाहता हूँ कि आप इसे समझें और इस मार्ग पर चलें। फिर आप अंतस् क्रान्ति से आचरण परिवर्तन की कीमिया को समझेंगे. . . . तब आपको दीखेगा कि नीति प्रथम नहीं है. . . . . प्रथम धर्म है और नीति उसका परिणाम है। नीति नहीं, धर्म साधना है . . . . नीति धर्म के पीछे वैसे ही चली आती है जैसे बैलगाड़ी के पीछे उसके चाकों के निशान बनते चले आते हैं।

यह दीख जाये तो एक बहुत बड़ा सत्य दीख जाता है और एक बहुत बड़ा भ्रम भंग हो जाता है। मैं मनुष्य के जीवन–परिवर्तन को इस आंतरिक क्रान्ति. . .अचेतन में चैतन्य के प्रवेश. .. से देखता हूँ। इस विज्ञान पर एक नये मनुष्य को जन्म दिया जा सकता है और एक नयी मनुष्यता और संस्कृति के आधार रखे जा सकते हैं। ऐसा मनुष्य. . . . इस आत्म-बोध से जागा हुआ मनुष्य. . . . सहज ही नैतिक होता है। नैतिकता उसे साधनी नहीं पडती है। वह उसकी चेष्टा और प्रयास का फल नहीं होती है। वह उससे वैसे ही विकीर्ण होती है जैसे दिये से प्रकाश होता है। उसका सदाचरण उसके अचेतन के विरोध पर खडा नहीं होता है . . .उसका आचरण उसके अंतस् की समग्रता

से आता है। वह अपने प्रत्येक कार्य में पूरा उपस्थित होता है। उसमें अनेकता नहीं, एकता (Unity) होती है। ऐसा व्यक्ति अखंड (Integrated) होता है....ऐसा व्यक्ति द्वन्द्वमुक्त होता है....और आंतरिक द्वन्द्वमुक्ति से जो संगीत सुना जाता है, वह इस लोक का नहीं है, वह इस काल का नहीं है। एक कालातीत...अमृत संगीत उस शान्ति में, उस निर्द्वन्द्वता में, उस निर्दोषिता (Innocence) में, हममें प्रवेश करता है और हम उसके साथ एक हो जाते हैं।

मैं इस अनुभूति को ही ईश्वर कहता हूँ।"

परिशिष्ट–१

प्रश्नोत्तर

प्रश्न १ : क्या आप नैत्तिक होना बुरा समझते हैं ?

☆ नहीं। नैतिक होना बुरा नहीं समझता हूँ, पर नैतिक होने के भ्रम को अवश्य ही बुरा समझता हूँ। वह वास्तविक नैतिकता के आने में बाधा बन जाता है। मिथ्या नैतिकता बाह्य आरोपण (Cultivation) होती है। उससे दंभ की तृप्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता है, और मेरी दृष्टि में दंभ . . . अहंकार से अधिक अनैतिक चित्त-स्थिति और कोई भी नहीं है। मिथ्या नैतिकता विनय और निरहंकारिता का भी आरोपण कर लेती है। पर उसके पीछे अहंकार ही पोषित होता और फलता फूलता है। क्या तथा-कथित साधुओं और सज्जनों में, जो मैं कह रहा हूँ, उस सत्य के दर्शन नहीं होते हैं ?

तथाकथित, आरोपित, चेष्टित (Tmposed), प्रयत्न-साध्य नैतिकता को मैं अभिनय (Acting) कहता हूँ। उसके बिल्कुल ही विपरीत व्यक्ति का अंतस् . . . . अंतःकरण होता है। जो ऊपर दीखता है, वह भीतर नहीं होता है। ऊपर फूल भीतर कांटे होते हैं। आचरण से विरोधी और सतत् संघर्ष–रत अंतस् . . . . चेतना और अचेतन के बीच एक अलंध्य खाई . . . व्यक्ति को, विभाजित और खंडित कर देती है। ऐसे व्यक्ति के भीतर संगीत (Harmony) नहीं होता है। . . . . . . और जहाँ संगीत नहीं है, वहाँ आनन्द नहीं है: जबकि मैं वास्तविक नैतिक जीवन को आनन्द से आविर्भूत मानता हूँ।

नीति आनन्द की स्फुरणा है . . . वह सहज स्फुरणा (Spontaneous expression) है। आनन्द जब अंतस् से प्रवाहित होता है, तो वह बाहर के जगत् में सदाचरण बन जाता है। आनन्द की जो सुगन्ध बाहर फैल जाती है, वही शुभ जीवन है।

इसलिये मैं संघर्ष पैदा करने को नहीं, संगीत पैदा करने को कहता हूँ। इस सत्य को देखो. . . मेरी बातों को केवल सुनो ही मत. . उन्हें जिओ . . . .और तब आपको ज्ञात होगा कि जो जीवन संगीत और सौन्दर्य का अखन्ड नृत्य हो सकता है, उसे हमने कैसे अपने ही हाथों. . .संघर्ष और अंतर्द्वन्द्व की अराजकता (Anarchy) बना रखा है।

नीति आती है, वह लाई नहीं जाती है। वैसे ही जैसे वृक्षों में फूल आते हैं। ध्यान के बीज बोने होते हैं, नीति की फसल काटी जाती है। नीति नहीं साधी जाती है, साधा ध्यान जाता है। ध्यान से शान्ति और संगीत और सौदर्न्य का जन्म होता है. . . .और जिसके भीतर शान्ति है, वह दूसरे को अशान्त करने में असमर्थ हो जाता है, और जिसके भीतर संगीत है, उसके सान्निध्य से दूसरे में भी संगीत के स्वर प्रतिध्वनित होने लगते हैं, और जिसके भीतर सौन्दर्य है, उसके आचरण से सारी कुरूपता (Ugliness) विलीन हो जाती है। क्या यही हो जाना नैतिक हो जाना नहीं है ?

प्रश्न २ : आप नैतिकता को एक सामाजिक उपयोगिता कह रहे हैं . . . क्या व्यक्ति के लिये उसकी कोई उपयोगिता नहीं है ?

☆ नीति–आचरण (Morality) समाज के लिये मात्र एक उपयोगिता (Utility) ही है, पर व्यक्ति के लिये वह उपयोगिता नहीं, आनन्द है। इसलिये समाज का काम मिथ्या-नैतिकता से भी चल जाता है, पर व्यक्ति के लिये वह काफी नहीं है।

समाज के लिये इतना पर्याप्त है कि आप दूसरों के लिये शुभ हैं ––आपके लिये यह पर्याप्त नहीं है। आपके लिये यह भी विचारणीय है, कि आप अपने में शुभ हैं या नहीं हैं ?

समाज का आपके व्यक्तित्व (Personality) से संबंध है––आपकी अन्तरात्मा से नहीं, पर स्वयं आपके लिये तो व्यक्तित्व वस्त्रों से ज्यादा नहीं है––आपका ––आपकी सत्ता का प्रारम्भ तो वहाँ से होता है, जहाँ ये वस्त्र समाप्त होते हैं–––व्यक्तित्व की खोल के पीछे और पृथक् आपका होना है–––वास्तविक नीति का जन्म वहीं होता है।

मिथ्या नैतिक आचरण से निर्मित समाज का नाम सभ्यता (Civilisation) है----वास्तविक जीवन को उपलब्ध व्यक्तियों के समाज का नाम संस्कृति (Culture)) है। सभ्यता और संस्कृति का यही भेद है। **सभ्यता उपयोगिता है, संस्कृति आन्तरिक आनन्द और संगीत है।** आज सभ्यता तो है, पर संस्कृति नहीं है। पर, हम सब चाहें तो, संस्कृति को, मिलकर जन्म दे सकते हैं।

सभ्यता का जन्म अपने व्यवहारको शुद्ध करने से होता है, संस्कृति का जन्म अपने को शुभ करने से होता है। सभ्यता शरीर है, संस्कृति आत्मा है। जो अपनी आत्मा में प्रतिष्ठित होते हैं, वे संस्कृति को उपलब्ध होते हैं।

प्रश्न ३ : क्या धर्म सामाजिक नहीं है----नितान्त वैयक्तिक है ?

☆ **हाँ। धर्म नितान्त वैयक्तिक है।** समाज के पास कोई आत्मा----कोई चेतना-केन्द्र नहीं है। समाज तो केवल हमारे अंतर्सम्बन्धों (Inter-Relationships) का समूह है। आत्मा व्यक्ति के पास है, इसलिये धर्म भी वैयक्तिक (Individual)) है।

धर्म मेरा सम्बन्ध ((Relationship) नहीं है, धर्म मेरी सत्ता है। मैं अपने स्वभाव में अपने स्वरूप में क्या हूँ----उसका उद्घाटन----उसका आविष्कार धर्म है।

----धर्म आत्मज्ञान है।

धर्म तो स्वयं सामाजिक नहीं है, अर्थात् धर्म की साधना समूह से संबंधित नहीं होती है।

किन्तु, धर्मानुभूति का प्रकाश जरूर समूह और समाज पर पड़ता है। धर्मकी साधना वैयक्तिक, पर परिणाम उसका सामाजिक भी होता है। **व्यक्ति अंतस् प्रकाश से भरता है तो उसका आचरण भी प्रकाश से भर जाता है------अंतस् वैयक्तिक है, पर आचरण सामाजिक है।**

साधना कभी भी सामूहिक नहीं हो सकती है---क्योंकि स्वयं को किसी के साथ नहीं, अकेले में और अकेले होकर ही जानना होता है। प्लॉटिनस ने

कहा है · 'वह अकेले की अकेले के लिये उड़ान है (Flight of the alone to the alone)'। सच ही, वह उड़ान बड़ी अकेली है ——बड़ी असंग है। पर उस उड़ान से मिले आनन्द से निश्चित ही दूसरे भी संक्रामित होते हैं . . . और दूसरे भी आन्दोलित होते हैं . . . **जो एकान्त में और अकेले में पाया जाता है, उसकी सुगन्ध जरूर दूर-दिगन्त तक परिव्याप्त हो जाती है।**

प्रश्न ४ : ईश्वर क्या है ?

☆ ईश्वर व्यक्ति नहीं है, अनुभूति है। अहं-केन्द्र के विसर्जन पर जो विश्व का दर्शन होता है, उस दर्शन . . . . उस अनुभव को ही मैं ईश्वर कहता हूँ —

ईश्वर की कोई अनुभूति नहीं होती हैं . . . . वरन् सर्व-पूर्ण-प्रेम की उस अनुभूति का नाम ही ईश्वर है। जिसका कोई केन्द्र नहीं है . . . जो कि समस्त सत्ता ही है . . . . सर्वसत्ता ही जिसका केन्द्र है ।

ईश्वर की अनुभूति कहना ठीक नहीं . . . . कहें कि पूर्ण प्रेम की अनुभूति का नाम ही ईश्वर है।

प्रेम (Love) दो व्यक्तियों के बीच का सम्बन्ध है. . . वही सम्बन्ध जब मेरे और सर्व के बीच होता है, तो उसको मैं ईश्वर (God) कहता हूँ।

प्रेम की चरम स्थिति . . . . पूर्णता ही परमात्मा है।

क्राइस्ट का वचन मुझे याद आता है : 'प्रेम ही परमात्मा है (Love is God)

"मैं" जब विसर्जित हो जाता हूँ . . . . तब जो शेष रह जाता है, वह प्रेम है।

'मैं' की चहारदीवारी के गिर जाने पर जो बच रहता है, वह प्रेम है। वही ईश्वर भी है।

इसलिये ईश्वर को जाना तो नहीं जा सकता है, पर ईश्वर हुआ जा सकता है।

प्रश्न ५ : आपने कहाः यह जीवन कोई जीवन नहीं है. . . यह तो मृत्यु की ही एक लम्बी क्रिया है। आपका इससे क्या अर्थ अभिप्रेत है ?

☆ सच ही जिसे हम जीवन जानते हैं, वह जीवन नहीं है। **वह जीवन हो तो उसकी परिसमाप्ति मृत्यु पर कैसे हो सकती है?** जीवन और मृत्यु तो विरोधी सत्य हैं...... फिर जीवन की पूर्णता मृत्यु कैसे हो सकती है ? मृत्यु जीवन का नहीं, जन्म का अन्त है, और वह अन्त में आती है, इसलिये हम यह न समझें कि वह अन्त में ही आती है। वह तो जन्म में ही उपस्थित है। वह तो उसी दिन से प्रारम्भ हो जाती है, जिस दिन से जन्म होता है। जन्म के बाद हम प्रतिक्षण मरते जाते हैं...... यह मरण प्रक्रिया जिस दिन पूर्ण हो जाती है, उसे हम मृत्यु कहते हैं। वह जो जन्म में बीज रूप में उपस्थित थी, वही अंत में पूर्ण रूप में प्रगट होती है। इसीलिये, जन्म के बाद और कुछ भी निश्चित नहीं है, पर मृत्यु अवश्य निश्चित है। वह इसीलिये निश्चित है, क्योंकि उसका तो आगमन जन्म के साथ ही हो गया है। जन्म उसका ही दूसरा नाम है...... उसका ही बीजरूप है। इसे समझना...... आप जिस दिन पैदा हुये, उसी दिन से निरंतर मर रहे हैं.....**इसलिये मैं कहता हूँ कि जिसे हमने जीवन जाना है, वह जीवन नहीं, वरन क्रमिक और धीमी मृत्यु की एक लम्बी प्रक्रिया है।**

हम जीवन से नहीं, इस क्रमिक मृत्यु से ही परिचित होते हैं और इसीलिये पूरे समय इससे बचाव में लगे रहते हैं। हमारे सारे आयोजन सुरक्षा (Security) और आत्मरक्षण (Self-Defence) के हैं, हम क्या कर रहे हैं ?......क्या निरंतर मृत्यु से बचाव में ही नहीं लगे हुये है ? मनुष्य इस बचाव के लिये ही धार्मिक भी हो जाता है...... इसीलिये मृत्यु की सन्निकटता को अनुभव कर लोग धार्मिक होने लगते हैं। वृद्धों की धार्मिकता अधिकतर ऐसी ही होती है। मैं इसे वास्तविक धार्मिकता नहीं कहता हूँ..... यह भी मृत्यु-भय का ही एक रूप है। यह सुरक्षा का अन्तिम उपाय (Safety measure) है। वास्तविक धार्मिकता का जन्म मृत्यु भय से नहीं, जीवनानुभव से होता है।

यह जानना है कि अभी हम जो भी जान रहे हैं, वह सब मृत्यु है। **इस मृत्यु का ज्ञान अमृत में ले जाता है।** शरीर मर जाता है......प्रतिक्षण मर

रहा है । इस देह के प्रति सजग होने से......इस मरण धर्मादेह के प्रति जागने मे......उसका अनुभव प्रारम्भ होता है जो कि देह नहीं है । उसे जान लेना जो कि देह नहीं है, वास्तविक जीवन को जान लेना है, क्योंकि उसका कोई जन्म नहीं हुआ है, और इसीलिये उसकी कोई मृत्यु नहीं होती है । वह सत्य जन्म के पूर्व था और मृत्यु के बाद भी रहेगा......वही जीवन (Life) है । **वह जन्म और मृत्युके बीच में नहीं है, वरन् जन्म और मृत्यु उसके बीच में घटी घटनायें हैं ।**

ध्यान की अवस्था में, जब चित्त शून्य और शान्त होता है, देह से अन्य और भिन्न तत्व का दर्शन होता है । चित्त की अशान्ति के कारण उसका दर्शन नहीं हो पाता है । जैसे किसी झील पर लहरें हो तो उसके कारण उसके भीतर झाँकना असम्भव होता है, ऐसे ही चित्त पर विचार तरंगों के सतत् प्रवाह के कारण जो अंदर छिपा है, वह छिपा ही रह जाता है और हम अपनी सतह को ही सब सत्य समझ लेते हैं । यह शरीर जो कि केवल मेरा आवास है, मेरा सब कुछ प्रतीत होने लगता है । यही मेरी सत्ता और मेरे जीवन का भ्रम देने लगता है । मैं शरीर पर ही अपने को समाप्त मान लेता हूँ । यह देह तादात्म्य (Identity) ही...... देह के साथ एकात्मता का यह आभास ही...... वास्तविक जीवन को नहीं जानने देता है और हम देह की क्रमिक मृत्यु की, समय में घटित हो रही, प्रक्रिया को ही जीवन समझ लेते हैं । अपने घर के बनने और मिटने को जैसे कोई अपना बनना और मिटना समझ ले......ऐसी ही यह भूल है । **यह अन्धकार चित्त-शान्ति पर टूटता है । अशान्ति ने जो भ्रम दिया था, शान्ति उसे विसर्जित कर देती है । तरंगों ने जिसे छिपाया था, निस्तरंगता (Wavelessness) उसे उघाड़ देती है ।** और तब हम पहली बार इस देह-घर के निवासी को जानते हैं । उसे जानते ही मृत्यु पुराने वस्त्रों के बदलने से ज्यादा नहीं रह जाती है, और जन्म नये वस्त्रों का ग्रहण हो जाता है । और, तब वह जीवन जाना जाता है जो कि सब वस्त्रों से भिन्न है ।

मैं उस व्यक्ति को ही जीवित कहता हूँ जो ऐसे जीवन को जानता है; अन्यथा हम सब मृत हैं । जिन्होंने दे को ही अपना होना जाना है, वे अभी मृत ही हैं । अभी उनका वास्तविक जीवन प्रारम्भ नहीं हुआ है । वे एक स्वप्न

में हैं, और निद्रा में हैं और एक मूर्च्छा में हैं । इस मूर्च्छा से जागे बिना...... शरीर-मूर्च्छा से जागे बिना वे उसे नहीं जान सकेंगे जो वे स्वयं हैं, जो उनकी सत्ता है जोकि उनका आधार है, जोकि उनका जीवन है ।

यह संसार मृतकों से भरा है......जीवित मृतकों (Living dead) से भरा है......और उनमें से अधिक मृत ही मर जाते हैं । वे मृत्यु से अपनी रक्षा में ही व्यय हो जाते हैं ।, और इस व्यस्तता में उसे जान ही नहीं पाते हैं जो कि उनके भीतर था, जो कि अमृत था, जिसकी कोई मृत्यु नहीं है।

६. प्रश्न : आपकी बात से मुझे दीख रहा है कि मैं मृत हूं तब मै जीवन को पाने के लिये क्या करूं ?

★ मित्र, मेरी बात से दीख रहा है तो उसका कोई भी मूल्य नहीं है, बातों को छोड़ दो. . . . मेरी भी औरों की भी; और फिर देखो ।

आपको स्वयं दीखना चाहिये । उस दर्शन से – वह दर्शन ही जीवन की ओर ले जाने का मार्ग बन जायेगा और तब आपको 'जीवन पाने के लिये क्या करूँ ?' यह नहीं पूँछना पड़ेगा । जिसे यह दर्शन होगा कि मैं मृत हूँ...... मेरा अब तक का होना ......मेरा अब तक का व्यक्तित्व.......यह सब मृत्यु ही है, उसे साथ ही साथ उसके भी दर्शन होने लगेगें जो कि मृत्यु नहीं है ।

पर, यह दीख सके उसके लिये चित्त की अशान्ति का विसर्जित होना आवश्यक है । **चित्त, शान्त हो......शून्य हो......निर्विकार हो तो दर्शन होता है ।** । अभी सब विचार है, दर्शन कुछ भी नहीं है । मेरी बात ठीक लगी, यह भी एक विचार है । इस विचार से कुछ भी नहीं न होगा.....विचार सत्य को नहीं उघाड़ता है, क्योंकि सब विचार पराये हैं । वे तो सत्य को और भी ढंक लेते हैं । क्या इस बात पर कभी दृष्टि गई है कि आपके पास जितने विचार हैं, सब पराये और उधार हैं । यह पूँजी झूठी है । इस पर विश्वास मत कर लेना, क्योंकि यह कोई पूँजी ही नहीं है । इस पर खड़े किये गये

भवन स्वप्न में बनाये गये भवानों जैसे हैं......वे ताश के पत्तों से बनाये गये घरों जितने भी सत्य नहीं है ।

मैं आपको कोई विचार नहीं देना चाहता हूँ । मै आपको उधारी से नहीं भरना चाहता हूँ । **मैं तो चाहता हूँ कि आप विचारें नहीं, जागें । मैं तो चाहता हूँ कि आप विचार छोड़ें और फिर देखें . . . फिर देखें कि क्या होता है ?** विचार से दर्शन पर चलें. . . . वही सत्य पर और उस सत्य-सम्पत्ति पर पहुँचाता है जो कि आपकी अपनी है ।

विचार छोडकर देखना (Seeing without thinking) कैसे रहस्य के पर्दों को गिरा देता है, यह तो स्वयं बिना किये नहीं जाना जा सकता है । स्मरण रखें कि इस जगत् में ऐसी कोई भी मूल्यवान अनुभूति नहीं है जो कोई दूसरा आपको दे सके, और जो भी दिया जा सकता है, वह न तो मूल्यवान होता है और न ही अनुभूति होती है । बस वस्तुयें ही ली दी जा सकती है । जीवित अनुभूतियों को लेने देने का कोई उपाय नहीं है । न महावीर, न बुद्ध, न कृष्ण, न क्राइस्ट. . . कोई भी आपको कुछ भी नहीं दे सकते हैं । और जो उनके विचारों को पकड़ लेते हैं, और जो उनके विचारों को ही सत्य समझ लेते हैं, वे स्वयं सत्य को जानने से वंचित रह जाते हैं । **और दूसरे का सत्य नहीं, स्वयं का सत्य ही मुक्त करता है ।** गीता को, कुरान को बाईबिल को कंठस्थ कर लो....उससे कुछ भी नहीं होगा । उससे ज्ञान नहीं आयेगा, उल्टे वे विचार आपके स्वज्ञान की क्षमता को आवृत ही कर लेंगे और आप स्वयं सत्य के सामने सीधे नहीं खड़े हो सकेंगे और शास्त्रों से स्मृति में आ गये शब्द सदा ही बीच में खड़े हो जायेंगे । वे धुँध और कुहासा पैदा करेंगे. . . . और जो हैं उसका दर्शन असंभव हो जायेगा । **सत्य और अपने बीच से सब अलग कर लेना आवश्यक है । सत्य को जानने को किसी विचार के सहारे की जरूरत नहीं है । सब हटादो. . . तब आप खुलोगे . . . . तब द्वार (Opening) मिलेगा कि सत्य आपमें आ सके और आपको परिवर्तित कर सके । विचार छोड़ो. . . और देखो । द्वार खोलो और देखो. . . बस, इतना ही, मेरा कुल कहना है ।**

प्रश्न ७ : क्या शास्त्रों का अध्ययन आवश्यक नहीं है ?

☆ शास्त्रों के अध्ययन से क्या होगा ? उस तरह ज्ञान थोडे ही आता है; केवल स्मृति प्रशिक्षित होती है । आप कुछ बातें सीख लेते हो, पर क्या सीख लेना (Learning) और जान लेना (Knowing) एक ही बात है ? ईश्वर, आत्मा, सत्य........... सब सीख लिया जा सकता है । आप बँधे-बँधाये उत्तर देने में समर्थ हो जाते हो । पर इसमें और सुबह आपके घर का तोता जो बोलता है, उसमें क्या कोई भेद है ?

शास्त्रों में सत्य नहीं, सत्य तो स्वयं में है । शास्त्रों में तो केवल शब्द हैं और स्वयं में उस सत्य को जान लिया जावे तो ही वे शब्द सार्थक हैं, अन्यथा निरर्थक ही नहीं, घातक भी हैं । शास्त्रों को जानकर सत्य नहीं जाना जाता है, हाँ, सत्य को जानकर शास्त्र अवश्य जान लिये जाते हैं ।

पर, मैं क्या देखता हूँ कि सत्य की जगह शास्त्र जाने जा रहे हैं और उस जानकारी से तृप्ति भी पाई जा रही है । यह तृप्ति कितनी थोथी और मिथ्या है. . . . क्या यह इस बात की सूचना नहीं है कि हम सत्य को तो नहीं जानना चाहते हैं, हम केवल इतना ही चाहते हैं कि लोग जानें कि हम सत्य को जानते हैं ! यदि हम वस्तुतः सत्य को जानना चाहते तो मात्र शब्दों से तृप्ति नहीं हो सकती थी । क्या कभी सुना है कि मात्र 'जल' शब्द से किसी की प्यास शान्त हुई हो ? और यदि शान्त हो जावे तो क्या ज्ञात नहीं होगा कि प्यास थी ही नहीं ?

शास्त्रों से एक ही बात ज्ञात हो जावे कि शास्त्रों से सत्य नहीं मिल सकता है, तो यही बस उनकी एकमात्र उपादेयता है । शब्द इतना बतादें कि शब्द व्यर्थ हैं तो पर्याप्त है । शास्त्र तृप्त नहीं, अतृप्त करदें तो काफी है । उनसे ज्ञान तो न मिले, अपने अज्ञान का बोध हो तो वह बहुत है ।

मैं भी शब्द ही बोल रहा हूँ : ऐसे शास्त्र बन जाते हैं । इन शब्दों को पकड़लें, तो सब व्यर्थ हो जायेगा । इन्हें कितना भी याद करलें तो कुछ भी न होगा । ये भी आपके मन पर कारागृह बन जायेंगे । और फिर आप जीवन भर उस स्वनिर्मित शब्दकारा में ही भटकते रहेंगे । हम सब अपने ही हाथों

से बनाई कैदों (Prisons) में बन्द हैं। **सत्य को जानना है, तो शब्द की कैद को तोड़दें. . . . इन दीवारों को गिरा दें. . . जानकारी (Information) की घेराबन्दी को राख हो जानेदें, उस राख पर ही ज्ञान (Knowledge)) का जन्म होता है, और उस कारा-मुक्त चैतन्य में ही सत्यका दर्शन होता है। सत्य तो आता है। पर वह आ सके, इसके लिये अपने में जगह बनानी होती है। शब्दों को हटादें तो उसी रिक्त स्थान (Space) में उसका पदार्पण होता हैं।**

प्रश्न ८ : क्या व्यक्ति स्वयं से संघर्ष और स्वयं का दमन करके कभी अपने को नहीं जीत सकता है ?

☆ स्वयं में संघर्ष और स्वयं के दमन का अर्थ क्या है ? क्या यही अर्थ नहीं है कि व्यक्ति अपने आपको दो में तोड़ ले ? वह अपने में ही लड़ेगा न ? वही पक्ष होगा वही विपक्ष होगा। शत्रु और मित्र वही होगा न? दोनों ही ओर उसकी शक्ति ही लगेगी।.....इस से जीत कभी नहीं हो सकती है; केवल उसकी शक्ति क्षीण और ह्रास ही होगी। **मैं जैसे अपने ही दोनों हाथों को लड़ाऊँ. . . तो क्या होगा ? स्वयं से लड़ने से भी वही हो सकता है।** इस तरह का संघर्ष एकदम ही अबुद्धिपूर्ण है।

मित्र, स्वयं से लड़ना नहीं, स्वयं को जानना है। स्व-अज्ञान के कारण जो असंगतियाँ और स्व–विरोध हममें पैदा हुये हैं, वे स्व.-ज्ञान के प्रकाश में वैसे ही बाष्पीभूत हो जावेंगे जैसे सुबह सूरज के निकलने पर दूब पर जमे ओस-कण विलीन हो जाते हैं। आत्म-विजय संघर्ष से नहीं, ज्ञान से आती है। क्योंकि वहाँ कोई अन्य है ही नहीं, जिसे पराजित करना है. . . अन्य नहीं है, अज्ञान है, और अज्ञान को हराना क्या है, ज्ञान के आते ही वह नहीं पाया जाता है। वह केवल अभाव है, ज्ञान की अनुपस्थिति है। उससे जो लड़ता है, वह छाया से लड़ता है।

वह प्रारम्भ से ही असफल होने के मार्ग पर चल रहा है।

आत्म-विजय के लिये संघर्ष की यह धारणा बाहर के जगत में शत्रुओं से युद्ध की धारणा के आधार पर ही विकसित हुई है। बाहर जो हिंसा शत्रु

के प्रति हम करते हैं, उसी आधार पर भीतर भी हम हिंसा करना चाहते हैं। कैसा पागलपन है! हिंसा तो बाहर भी कभी किसी शत्रु को नहीं जीत सकी है...... पराजित करना बिलकुल दूसरी बात है, पर भीतर तो जिसे हम शत्रु मान रहे हैं उसे हिंसा से पराजित भी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वहाँ तो दूसरा कोई है ही नहीं जो पराजित भी हो सके। आत्मविजय संघर्ष का परिणाम नहीं है। वह ज्ञान का परिणाम है।

मैं कहता हूँ : लडो नहीं, जानो। युद्ध नहीं, ज्ञान। यही सूत्र समझो। अपने को उघाड़ो और जानो! **स्वयं के भीतर ऐसा कुछ भी न रहे जोकि अनजाना है। अपने भीतर ऐसा कोई कोना न रह जावे जो कि अंधेरा हैं और अपरिचित हैं। मैं यदि अतने सारे अंतः–कक्षों से परिचित हो जाऊँ तो वही परचिय आत्मविजय बन जाता है।** अंधेरे घरों में.....और ऐसे कोनों में और ऐसे तलघरों में जहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता है और हवाओं के ताजे झोके नहीं पहुँचते हैं, सांप, विच्छू और चमगादड़ अपना आवास बना लेते हैं.....और ऐसे घरों के वासी यदि अपने भवनों के बाहर ही जीवन गुजार देते हों और कभी घरों में प्रवेश ही न करते हों, तो क्या उनके आवासों की यह दुर्दशा आश्चर्यजनक है या कि अस्वाभाविक है? यही हमारे साथ हुआ है। **हम भी ऐसे ही घरों के मालिक हैं जोकि अपने ही घरों में भीतर जाने का रास्ता भूल गये हैं, और जिनके घरों में प्रकाश के अभाव में और स्वयं की अनुपस्थिति के कारण उनके ही शत्रु अतिथि बने हुये हैं।**

प्रश्न९ : आप कहते हैं कि असद् वृत्तियों का दमन घातक है, तब क्या उनका भोग ठीक है?

☆ मैं दमन को भी नहीं कहता हूँ, मैं भोग को भी नहीं कहता हूँ, मैं उनके ज्ञान को कहना हूँ। भोग और दमन दोनों अज्ञान हैं, दोनों घातक हैं। दमन भोग की ही प्रतिक्रिया है। वह उनका ही शीर्षासन करता हुआ रूप है। वह उससे बहुत भिन्न नहीं है। वह उल्टा होकर वही है।

किसी साधु के सम्बन्ध मे कोई मुझे बताता था कि वे धन को देखकर दूसरी ओर मुँह कर लेते हैं । क्या यह धन को देखकर मुँह में पानी भर आने से बहुत भिन्न है ? लोभ से भागने से यही होगा । लोभ मिटेगा नहीं, विपरीत-रूप ले लेगा और सबसे बडी कठिनाई तो यह है कि वह विपरीत-रूप में भी उतना का उतना ही बना रहेगा और कहीं ज्यादा सुरक्षित रूप में, क्योंकि अब वह स्वयं को दीखना भी बन्द हो जायेगा । वह तो रहेगा ही और अलोभ का भ्रम भी आ जायेगा । यह एक शत्रु को निकालने जाकर दो को आमंत्रण दे आने जैसा है ।

मैं चाहता हूँ कि हम लोग, काम, क्रोध को जाने......उनसे लड़े भी नहीं, उनका अन्धानुकरण भी न करें । उनके प्रति होश से भरें......उनका निरीक्षण करें......उनकी पूरी यान्त्रिक प्रक्रिया और रूप से परिचित हों । **क्या कभी देखा है कि क्रोध को देखे तो वह विलीन हो जाना है ? पर हम या तो भोग मे लग जाते हैं, या दमन मे लग जाते हैं दोनों ही स्थितियों मे... दोनों ही विकल्पों में उसे देख नहीं पाते है** । वह अनदीखा और अपरिचित ही रह जाता है । यही भूल है । और भोग या दमन दोनों ही इस भूल मे सहयोगी हैं । उन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरा विकल्प भी है । वही मैं सुझाना चाहता हूँ । वह है वृत्तियों के दर्शन का...... उन्हें देखने का......उनके साथ कुछ करने का नहीं, बस केवल उन्हें देखने का । इस भाँति जब आँख उन पर थिर होती है, तो पाया जाता है कि वे विलीन और विसर्जित हो रही हैं । वे आँख को नहीं सह पाती हैं । वे केवल मूर्च्छा मे ही संभव हैं । सजग चेतना मे वे मर जाती हैं और निष्प्राण हो जाती हैं । **हमारी मूर्च्छा ही, हमारा उन्हें न देखना ही उनका जीवन है । वे अंधेरे के कीड़े मकोड़ों की तरह हैं । प्रकाश आते ही उनके प्राण पखेरु उड़ जाते हैं ।**

परिशिष्ट—२

कुछ स्फुट विचार

मैं दूसरों की दृष्टि में क्या हूँ, यह महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण यह है, कि मैं अपनी स्वयं की दृष्टि में क्या हूँ? पर हम दूसरों की दृष्टि से ही स्वयं को भी देखने के आदी हो जाते है, और भूल जाते है कि स्वयं को सीधा (Direct) और प्रत्यक्ष (Immediate) देखने का भी एक रास्ता है और वही रास्ता वास्तविक भी है, क्योंकि वह परोक्ष नहीं है। पहले तो हम स्वयं ही दूसरों को दीखाने के लिये अपना एक रूप. .एक आवरण बना लेते हैं, और फिर दूसरों को जैसे दीखते है, उस पर ही स्वयं के सम्बन्ध मे भी धारण कर लेते हैं। ऐसी, आत्मप्रवंचना (Self-deception) मनुष्य जीवन भर करता रहता है। धार्मिक जीवन के प्रारम्भ के लिये इस आत्मप्रवंचना पर ही सबसे पहले आघात करना होता है।

मैं जैसा हूँ और जो हूँ. . .उसे सारी आत्मप्रवंचनाओं को तोडकर, पूरी नग्नता (Nakedness) मे जानना आवश्यक है, क्योंकि उसके बाद ही जीवन-साधना की किसी वास्तविक दिशा मे चरण उठाये जा सकते हैं। स्वयं के संबंध मे असत्य धारणायें....स्वयं के अभिनय—व्यक्तित्व को वास्तविक समझने की भ्राँति के रहते. . मनुष्य सत्य के जगत मे प्रवेश नहीं कर सकता है। **इसके पूर्व कि हम परमात्माको जाने, या कि स्व-सत्ता को, या कि सत्य को.....हमें उस काल्पनिक व्यक्ति को अग्निसात करही देना होगा जोकि हमने स्वयं अपने ऊपर ओढ लिया है।** यह धोखे की खाल हमे नाटकीय जीवन के ऊपर जो वास्तविक जीवन है, उस तक नहीं उठने देती है। सत्य मे चलना है तो इस नाटक से जागना आवश्यक है।

क्या आपको कभी ऐसा नहीं लगता है कि आप एक नाटक कर रहे हैं? क्या कभी ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि आप भीतर कुछ हैं, और बाहर कुछ है?

क्या किसी अमूर्च्छित क्षण मे इस वंचना का बोध आपको पीड़ा नहीं देता है ? यदि आपमें इस संबंध में प्रश्न उठता है और पीड़ा उठती है तो वही संभावना है जो आपको नाटक के बाहर ले जा सकती है....रंगमंच से उस पृष्ठ भूमि में जहां आप किसी अभिनय के पात्र नहीं, बल्कि स्वयं आप है।

मैं अपने आपको जो भी समझ रहा हूँ कि मैं हूँ.....वह क्या वस्तुत: मैं हूँ, यह अपने से पूछना आवश्यक है। इस प्रश्न को हमारी गहराईयों में प्रतिध्वनित होना चाहिये। वह इतनी तीव्रता और सजगतासे हमारे भीतर खड़ा हो कि भ्रम की कोई संभावना न रहे। इस प्रश्न, इस जिज्ञासा, इस अंतर्खोज के परिणाम में एक अभूतपूर्व जागरण और चेतना आती है, जैसे किसी ने हमें नींद से जगा दिया हो। और तब दिखाई पड़ता है कि हमने जो महल खड़े किये थे वह स्वप्न में थे और हमने जो नावें चलाई वें झूठी थीं। सारा जीवन ही तब असत्य दिखता है, जैसे वह अपना नहीं किसी और का ही हो। वस्तुत:, वह अपना है भी नहीं। वह कोई अभिनय है जो हम पूरा कर रहे है....ऐसा अभिनय जो हमारी शिक्षा, दीक्षा, संस्कार, परम्परा और समाज ने हमें सिखा दिया है, लेकिन जिसकी जड़े हममें नहीं है। यदि किसी गुलदस्ते में सजे फूल अनायास जाग जावें तो उन्हें जैसे ज्ञात हो कि उनकी कोई जड़ें नहीं है, ऐसा ही हमें भी जागने पर ज्ञात होना अवश्यसंभावी है। हम व्यक्ति नहीं, केवल धोखा है, जड हीन-भूमिहीन, अधर में लटके हुये किसी कथा के पात्र हैं....किसी स्वप्न कथा के, जिनका वस्तुत: कोई होना नहीं है।

मैं इस स्वप्न में आपको डूबा और चलता हुआ देखता हूँ। आपके सारे कार्य निद्रित हो रहे है। आपकी सारी क्रियाये सोई हुई है। पर सोने से जागना हो सकता है। निद्रा और मृत्यु में यही तो भेद है। एक से जाग सकते है, दूसरे से जाग नहीं सकते हैं। **निद्रा कितना भी गहरी हो, तो भी जागरण उसकी संभावना (Possibility) है.....वह उसमें प्रसुप्त बीज (Potentiality) है।**

मैं स्वयं के आमने सामने हो सकूं तो बहुत से भ्रम भंग हो जाते है....जैसे किसी ने अपने आपको बहुत सुन्दर मान रखा हो

और वह पहली बार दर्पण के सामने आ जावे। **शरीर को देखने का दर्पण है, वैसे ही स्वयं को देखने का दर्पण भी है। मैं उसी दर्पण** (Mirror) **की चर्चा कर रहा हूँ। वह दर्पण स्व- निरीक्षण** (Self-Observation) **का है।**

क्या आप अपने आपके सत्य को देखना चाहते हैं? क्या उस व्यक्ति से मिलना चाहते हैं, जो कि आप हैं।

और क्या, इस संभावना को जानकर कि स्वयं के नग्न—रूप को जाना जा सकता है, आपको डर नहीं मालूम होता है? वह मालुम होना बहुत स्वाभाविक है। उसके कारण ही तो हम स्वयं के सम्बन्ध में नये नये स्वप्न गढ़ते रहते हैं, और उसे भुलाये रहते हैं जोकि हमारी वास्तविकता है। पर ये स्वप्न साथी नहीं हो सकते हैं। उनके सहारे कहीं भी पहुँचना नहीं होता है। वे केवल उस समय को और उस अवसर को नष्ट करते हैं, जिससे कि कहीं पहुँचा जा सकता था।

आप सोचते होंगे कि मैं स्वयं की इस नग्नता और कुरूपता और रिक्तता को देखने के लिये क्यों इतना आग्रह कर रहा हूँ? क्या यह अच्छा नहीं है कि जो देखने योग्य नहीं है, उसे देखा ही न जावे ? और क्या यह शुभ और सुन्दर नहीं है, कि जो कुरूप है उसे हम आभूषणों से ढ़ाँक दें, और जो दर्शनीय नहीं हैं, उसे परदों में छिपादें ?

साधारणतः हम यही करते है। यही रिवाज है। यही प्रचलन है। **पर यह प्रचलन बहुत आत्मघाती है, क्योंकि हम जिन घावों को छिपा लेते हैं, वे छिपाने से मिटते नहीं है, वरन् और भी घातक हो जाते हैं। और, हम जिन कुरूपताओं को ढ़ाँक लेते हैं, वे नष्ट नहीं होतीं, वरन् हमारे समस्त व्यक्तित्व के अंतः स्रोतोंमें प्रविष्ट हो जाती हैं।** ऊपर झूठी सुगन्धियाँ हम छिटकते रहते हैं, और भीतर दुर्गन्ध का राज्य हो जाता है। और फिर एक दिन कोई भी सुगन्ध काम नही देती है, और भीतर की दुर्गन्ध बाहर आने लगती है। और एक दिन कोई आभूषण काम नहीं देते हैं और कुरूपता उन्हें फोडकर बाहर निकल आती है।

मैं सुगन्ध छिड़कने के नहीं, दुर्गन्ध का अंत करने के पक्ष में हूँ। में आभूषणों और फूलों से कुरूपता को ढ़ाँकने के पक्ष में नहीं, उसे आमूल नष्ट

कर, सौन्दर्य और संगीत को अंतत् से जगाने के पक्ष में हूँ। वह न हो, तब सब व्यर्थ हैं। सारी चेष्टायें व्यर्थ हैं। सारा श्रम रेत से तेल निकालने जैसा है।

और इसलिये जो ढँका है, उसे मैं स्वयं के समक्ष उघाडने को कहता हूँ। अपने को उघाड़ो और अपने को जानो। **स्वयं से भागो मत**। स्वयं से पलायन (Escape) संभव भी नहीं है। भागकर जाओगे कहा?.......... जो आप हो, वह तो साथ ही होगा। **उसे बदला जा सकता है, पर उससे भागा नहीं जा सकता है।**

इस परिवर्तन-शृंखला की प्राथमिक कड़ी स्व-निरीक्षण है।

और आश्चर्यों का आश्चर्य तो यह है कि कुरूपता को जानना, कुरूपता से मुक्त हो जाना है।....स्वयं के भय को जानना, ,भय से मुक्त हो जाना है। घृणा को जानना, ,घृणा से मुक्त हो जाना है। **उनपर दृष्टि नहीं है, इसलिये वे हैं। हम उनसे भाग रहे हैं, इसलिये वे हमारे पीछे है। हम रुकें तो वे रुक जावें.....वैसे ही जैसे स्वयं के भागने के साथ स्वयं की छाया भागती है, और रुकने के साथ रुक जाती है।** और यदि हम उनका निरीक्षण करें तो सारा दृश्य ही बदल जाता है। जिन्हें हमने भूत प्रेत समझा था, वे हमारी छायायें मात्र थीं ! हम भागते थे, इसलिये वे भूत-प्रेत हमारा पीछा करते और हमें भगाते थे। **उनके प्राण उनमें नहीं, हमारे भागने में थे !** रुकते ही वे निष्प्राण हैं, निरीक्षण करते ही वे भूत-प्रेत भी नहीं हैं.......वे मात्र छायायें हैं।

और निश्चय ही छायायें (Shadows) तो कुछ भी नहीं कर सकती हैं? कुरुपता की छाया थी, उसे ढ़ाँकने को फूलों के वस्त्र पहनाये थे....ऐसे एक भ्राँन्ति को जन्म दिया था। अब जब दिखता है कि वहाँ केवल छाया ही है, और वस्त्र पहनाने अनावश्यक हो जाते हैं, तो छाया से मुक्ति होती है और उसका बोध होता है, जिसकी कि वह छाया थी। यही बोध सुन्दर के, परम सुन्दर के दर्शन को जन्म देता है।

यह दर्शन मुझे हुआ। छायाओं से भागने से रूका, तो छायाओं के पीछे देखने की क्षमता आई। और जो वहाँ दिखाई पड़ा.....उसने, उस सत्य ने

सब कुछ बदल डाला। **सत्य सब बदल डालता है, उसकी उपस्थिति ही क्रान्ति है।**

इसलिये कहता हूँ: डरो मत। जो है, उसे देखो और कल्पनाओं में, स्वप्नों में शरण मत लो। उस शरण से जो बचने का साहस करता है, सत्य उसे अपनी शरण में ले लेता है।

सुबह कोई पूछता था कि स्वयं को सीधा जानने का क्या अर्थ है? सीधा जानने का अर्थ है कि अपने सम्बन्ध में दूसरों के मतों (Opinions) को ग्रहण मत करो। खुद देखो कि आपके भीतर क्या है....आपके विचारों में, आपकी वासनाओं में, आपकी क्रियाओं में, आपकी आकांक्षाओं-अभीप्साओं में......क्या छिपा है, क्या गुप्त (Hidden) है? इसका सीधा साक्षात् करो.... जैसे कोई बिल्कुल अभिनव भूमि में पहुँचकर निरीक्षण करता है· ऐसे ही स्वयं को देखो; वैसे ही जैसे कोई अपरिचित को और अजनबी (Stranger) को देखता है। इससे बहुत हित होगा। सबसे बडा तो यह कि आपने अपनी ही आँखों में अपनी जो दिव्य मूर्ति बना रखी होगी, वह भग्न और खंडित हो जावेगी। यह मूर्ति-भंजन आवश्यक है, क्योंकि इस कल्पना-मूर्ति के गिरने के बाद ही हम स्वप्न भूमि से वास्तविक भूमि पर चरण रखते हैं। **इसके पूर्व कि हम सत्य और शुभ हों.....सत्य और शुभ होने के भ्रम टूट जाने जरूरी हैं, जिन्हें कि हमने अपने असत्य और अशुभ को छिपाने के लिये आविष्कृत किया था....जोकि हमारी आत्मवंचनायें थीं।**

प्रत्येक व्यक्ति अपना एक कल्पित रूप और व्यक्तितव व्यर्थ ही नहीं बना लेता है। वह भी किसी आवश्यकता से ही होता है। वह होता है, स्वयं के समक्ष अपमान से बचने के लिये। भीतर पशु दिखता है। इस पशु की उपस्थिति पीड़ा देती है और स्वयं के समक्ष ही स्वयं को अपमानित करती है। इससे बचने के दो उपाय हैं....या तो पशु विलीन हो या फिर पशु भूल जावे। विलीन करना तो एक साधना से गुजरना है पर विस्मृत करना बहुत आसान है। वह बड़ी सरल बात है। कल्पना ही उसके लिये पर्याप्त है। स्वयं के समक्ष

हम स्वयं की एक कल्पना मूर्ति खड़ी कर लेते हैं। इस मूर्ति से वह पशु दब जाता है। पर वह दबता ही है, मिटता नहीं है। और हमारी मूर्ति के पीछे सक्रिय बना रहता है। वस्तुतः दीखने में ही वह मूर्ति होती है, पीछे पशु ही होता है।

इस मूर्ति को क्या वास्तविक जीवन में....वास्तविक परिस्थितियों में रोज ही हारते और पराजित होते हुये नहीं देखते हैं? वह स्वाभाविक ही है.....जो पशु भीतर है, वही वास्तविक है। और इसलिये वह हमारे सारे उपायों को व्यर्थ करता रहता है। काल्पनिक, उसके समक्ष प्रतिदिन ही हारता है। फिर भी, हम उसे बनाये और सजाये रहते हैं। और वह वास्तविक है, स्वयं को और अन्यों को यह प्रमाण देने को अनेक उपाय भी करते रहते हैं। **हमारे दान, हमारे त्याग, हमारी दयायें, हमारी सेवायें...हमारी सारी तथाकथित नैतिकता क्या ऐसे ही प्रमाणों की तलाश नहीं है !** पर, इस सबसे कुछ भी नहीं होता है, और जो मूर्ति हमने गढ़ी है वह मृत ही रहती है, उसमे प्राण नहीं आते हैं, नहीं आ सकते है।

इस मृत-बोझ (Dead-weight) से मैं मुक्त होने को कहता हूँ। इस झूठे साथी को......मुर्दा साथी को छोड़......और जो वास्तविक है, उसे समझे और जाने। **इससे नहीं, उसीसे मार्ग है, जिससे बचने को हमने इस मिथ्या प्रवंचना को गढ़ा है।**

मैं कल रात्रि खेतों के करीब से निकलता था। वहाँ मैंने खेतों मे खड़े झूठे आदमी देखे। डंडों पर हंडिया रखी हैं, और उन डंडों को कुरते पहना दिये हैं। अंधेरे मे वे पशुपक्षियों को रखवालों के होने का धोखा दे देते हैं। मैं उन्हें देखता रहा और जो मेरे साथ थे, उन्हें भी देखता रहा। फिर मैंने कहा : **'हम अपने में देखें कि कहीं हम भी तो झूठे आदमी ही नहीं हैं ?'** मेरे साथ जो थे, सुनकर हँसने लगे। पर मैने देखा कि उनका हँसी बिल्कुल झूठी थी हमारा सब झूठा हो गया है। हमारा सारा जीवन....सारा व्यवहार, हमारी हँसी, हमारा रुदन सब झूठा हो गया है। इस झूठ को हम खींचते खींचते थक जाते

हैं। यह झूठ बहुत बोझीला है, पर फिर भी हम इसे उतारते नहीं है, क्योंकि जो इस झूठ के पीछे है, उससे हमें और भी भय होता है। वहाँ प्रवेश करते डर लगता है।...क्योंकि जो हमने सदा अपने को माना है, वह वहाँ कही भीं नहीं है, और जिसकी हमने सदा दूसरों में निंदा की है, वह सब बहुत प्रगाढ़ रूप में वहाँ उपस्थित है। यह भय हमें स्वयं को नहीं उधाड़ने देता है।

साधना के जीवन में अभय (Fearlessness) पहली शर्त है। जो उसका साहस नहीं कर सकता है, वह अपने भीतर भी नहीं जा सकता है। **अंधेरी रातों में, अंधेरे और अनाजान और बीहड़ रास्तों पर अकेले जानें में जिस साहस (Courage) की जरूरत है, उससे भी कहीं ज्यादा साहस स्वयं के भीतर जाने के लिये करना होता हैं, क्योंकि इस प्रवेश से स्वयं के सम्बन्ध में ही खड़े किये हुये मधुर स्वप्न टूटते हैं, और ऐसी कुरुपताओं और घिनौने पापों का साक्षात करना होता है, जिनकी कि मने स्वयं से बिल्कुल निवृत्ति ही मानली थी।**

पर साहस से जो अपने को उघाड़ता है, और उन अँधी गलियों और अंधेरे गलिहारों में प्रवेश करता है, जो उसके ही भीतर है; पर जिन पर उसने जाना बंद कर दिया है, तो एक अभिनव जीवन का प्रारम्भ हो जाता है........ एक ऐसी यात्रा इस अंधेरे में जाने के साहस से प्रारम्भ होती है, जिसकी अंतिम परिणति पर वह आलोक उपलब्ध होता है जिसकी कि हम जन्म जन्म से खोज में थे, पर अंधेरे मे जाने के साहस के अभाव के कारण जिससे वंचित थे। **अंधेरा आलोक को छिपाये हुये है, जैसे राख अंगारे को छिपाये हो...अंधेरे को चीरते ही उसके दर्शन होंगे, जोकि अंधेरा नहीं है।**

इससे कहता हूँ कि यदि आलोक को पाना है, तो अंधेरे से मत डरो। जो अंधेरे से डरता है, वह आलोक को भी कभी नहीं पा सकता है।

आलोक का मार्ग अंधेरे से होकर जाता है...अंधेरे मे प्रवेश का साहस ही वस्तुतः भीतर आलोक बन जाता है। उस साहस से ही वह जागता है, जोकि सोया है।

मैं देखता हूँ कि आप आत्मज्ञान के लिये तो आकांक्षी हैं, पर अपने आपको....जैसे आप हैं, उसे....जानने से डरते हैं। आत्मा सच्चिदानंद है.........नित्य शुद्ध बुद्ध है, ऐसी बातें सुनकर आपको अच्छा लगता है। यह भी इसीलिये कि इस भाँति आप जो हैं.....सच्चिदानंद ....शुद्ध बुद्ध स्थिति के बिल्कुल विपरीत और दूसरे छोर पर....उसे विस्मृत करने में और अपने अहंकार को परिपुष्ट करने में आपको सुविधा और सहायता मिलती है। साधुओं के पास पापियों की भीड़ इसीलिये इकट्ठी हो जाती है...क्योंकि, वहाँ आत्मा की शुद्धता और स्वयं के ब्रह्म होने की बातें उन्हें बहुत प्रीतिकर लगती हैं। उन बातों को सुनकर उनका पश्चाताप कम हो जाता है, और हीनता दब जाती है और वे स्वयं के समक्ष फिर सीधे खड़े हो जाने में समर्थ हो जाते हैं, जिसका कि एक ही परिणाम होता है कि वे पाते हैं कि पाप करना आसान होता जाता है क्योंकि आत्मा तो शुद्ध है!

आत्मा को शुद्ध-बुद्ध मान लेने से पापों का अन्त नहीं होता है। वह बहुत गहरी आत्मवंचना है। वह मनुष्य बुद्धि की अंतिम तरकीब है।

अंधकार है ही नहीं, ऐसा मानने से आलोक नहीं हो जाता है। पाप है ही नहीं...आत्मा कुछ करती ही नहीं है, ऐसी विचारसरणि बहुत धोखे की है। वह स्वयं को पाप-स्थिति को विस्मरण करने का उपाय है। **उससे पाप मिटते नहीं, केवल विस्मृत हो जाते हैं, जोकि पापके होने से भी बुरा है।** उनका दीखना उनका बोध शुभ है, उनका न दीखना उनके प्रति मूर्च्छा अशुभ है....क्योंकि वे दीखते हैं तो चुभते है...सालते हैं और स्वयं के परिवर्तन की प्रेरणा उत्पन्न करते हैं। पाप का बोध परिवर्तन लाता है, और उसका पूर्ण बोध तो तत्क्षण क्रांति पैदा कर देता है।

इसलिये, आत्मा शुद्ध बुद्ध है, इन बातों में मत पड़ जाना। वह मानने की बात ही नहीं है। वह तो जब पाप-व्यक्तित्व विसर्जित हो जाता है, और अंधकार की परतों को तोडकर साधक स्वयं के निगूढ और गुप्त आलोक केंद्र में प्रवेश करता है, तब अनुभव में आया हुआ साक्षात् है। वह साक्षात् है। उसकी धारणा नहीं बनानी है। उसकी धारणा बहुत घातक हो सकती है। वह आलोक तक पहुँचने में बाधा हो सकती है, क्योंकि यदि अँधकार है ही नहीं, तो जो नहीं है

उसे दूर करने का प्रश्न ही कहाँ उठता है? आत्मा यदि पाप पुण्य करती ही नहीं है, तो पाप पुण्य के ऊपर उठने का सवाल ही नहीं उठता है। इन तथा-कथित तत्वज्ञान की थोथी बातों में बहुतों को बेहोश किया हुआ है। यह जहर बहुत दूर तक प्रभावी हो गया है, और यही वजह है कि हम परमात्मा भी बने हुये हैं और हम जैसे पापी भी जमीन पर खोज लेने असंभव है!

यह स्मरण रहे कि आत्मा की शुद्धता की ये बातें और उनका प्रभाव पाप को विस्मरण करने के लिये है। इन बातों के जाल में जो गिर जाते हैं उनका उबरना मुश्किल हो जाता है। पाप से उबरना आसान है, पर इस घातक तत्वज्ञान से उबरना बहुत कठिन है।

आत्मा शुद्ध है, यह सिद्धांत नहीं, साक्षात् है। उसकी चर्चा व्यर्थ है... क्योंकि वह बीमारों के सामने यह भ्रम पैदा करने जैसा है कि बीमारियाँ हैं ही नहीं, और यदि बीमारों ने मान लिया तो परिणाम स्वास्थ्य नहीं, केवल मृत्यु ही हो सकता है! जो जानते हैं, वे उसकी चर्चा नहीं करते हैं। वे तो उस साधना की चर्चा करते हैं जो कि उस साक्षात् तक पहुँचा देती है।

साक्षात् नहीं, साधना विचारणीय है। साधना के बाद साक्षात् तो होगा ही.......उसे विचार में लेना व्यर्थ है। उसे यदि किसी ने मान लिया तो साधना असंभव हो जायेगी। और, साक्षात को बिना साधना के मान लेया कितना आसान और सुखद है। उस भाँति पाप से बिना मुक्त हुये ही, मुक्ति का रस आ जाता है।.....और धोखे की एक गहरी धुँध में भिखमँगे बादशाह होने का मजा ले लेते है!

आह! भिखमँगों को यह बताना कितना आनन्द नहीं देता होगा कि वे भिखमँगे नहीं हैं, सम्राट हैं! और, जो उन्हें ऐसा बताते हैं, वे यदि उन्हें बहुत श्रद्धा देते हों और उनके चरणों में सिर रखते हों तो आश्चर्य नहीं है! पाप से, दरिद्रता से, इससे सस्ती और कोई मुक्ति नहीं हो सकती है। थोथा तत्वज्ञान (Pseudo Philosophy) बडी सस्ती मुक्ति दे दता है............जबकि साधना श्रम माँगती है।

आप भी तो ऐसे ही किसी तत्वज्ञान या तत्वज्ञानी के चक्कर में तो नहीं हैं? कोई संक्षिप्त और सस्ता रास्ता (Short-Cut) आपने भी तो नहीं पकड़ लिया है? सबसे सस्ता यही है कि आत्मा शुद्ध बुद्ध है.....वह स्वयं ब्रह्म है और इसलिये फिर कुछ करने जैसा नहीं है; अर्थात जो आप कर रहे हैं वह सब करने जैसा है, क्योंकि छोड़ने जैसा कुछ भी नहीं है।

स्मरण रहे कि सत्य का भी दुरुपयोग हो सकता है.....और श्रेष्ठ सत्य भी निकृष्ट असत्यों को छिपाने के काम में लाये जा सकते हैं। ऐसा हुआ है...और नित्य होता है। कायरता अहिंसा में छिपाई जा सकती है, और पाप आत्मा की शुद्ध-बुद्धता के सिद्धांत में ढ़ाँके जा सकते हैं, और अकर्मण्यता संन्यास बन सकती है!

मैं आपको इन धोखों से सावधान करना चाहता हूँ। जो इनसे सावचेत नहीं है, वह स्वयं में बहुत प्रगति नहीं कर सकता है। पाप का, अंधकार का, जो घेरा हम पर है, उससे बचने को....उससे पलायन करने को किसी सिद्धांत-जाल की शरण न खोजें। उसे जाने और उससे परिचित हों। वह है....उसके होने को विस्मरण नहीं करना है। वह स्वप्नवत् है तो भी है.....'वह नहीं हैं' ऐसा नहीं है। स्वप्न की भी अपनी सत्ता है। वह भी घेर लेता है और वह भी हममें आन्दोलन करता है। उसे स्वप्न कहकर और मानकर ही कोई गति नहीं है। उससे जागे बिना कोई रास्ता नहीं है। **पर कोई चाहे तो बिना जागे भी, स्वप्न में ही जागने का स्वप्न देख सकता है। थोथा तत्वज्ञान....साधना शून्य तत्वज्ञान यही करता है। वह जगाता नहीं है, स्वप्न में ही जगाने का स्वप्न पैदा कर देता है।** यह स्वप्न के भीतर स्वप्न है। ऐसे स्वप्न आपने नहीं देखे हैं क्या, जिनमें आप देख रहे हों कि आप जागे हुये हैं? पाप नहीं है, अंधकार नहीं है, ऐसा कहने और विश्वास करने से कुछ भी नहीं होता है। इससे सत्य नहीं, केवल हमारी आकांक्षा की ही घोषणा होती है। हम चाहते हैं कि पाप न हो, अँधकार न हो। पर चाहना ही काफी नहीं है। अकेली चाह नपुंसक (Impotent) है। और तब धीरे धीरे ...जैसे भिखमँगा सम्राट होने की चाह करते करते, अंतत: स्वप्न ही देखने लगे कि वह सम्राट हो गया है, ऐसी ही तत्वज्ञानियों की गति हो जाति है। वे चाहते चाहते....उसे मान

ही लेते हैं, जो कि केवल उन्होंने चाहा था, और जो उन्हें मिला नहीं है। पराजय को इस भाँति भूलना आसान हो जाता है। और जो सत्य में नहीं मिला, उसे स्वप्न में मिला जानकर वे तृप्ति की साँस ले पाते हैं!

आपके इरादे तो इस भाँति तृप्त होने के नहीं हैं, अन्यथा आप एक गलत व्यक्ति के पास पहुँच गये हैं। मैं आपको कोई भी स्वप्न नहीं दे सकता हूँ, और आत्मवंचनाके लिये भी कोई सहारा नहीं दे सकता हूँ। **मैं तो स्वप्न-भंजक हूँ और आपकी निद्रा को तोड़ना चाहता हूँ।** इससे पीड़ा भी हो, तो मुझे क्षमा करना...... जागरण सच ही पीड़ा है, क्योंकि वही एकमात्र तपश्चर्या है।

इस पीड़ा, इस तप का प्रारम्भ स्वयं की वास्तविक पाप-स्थिति..... स्वयं की वास्तविकता को जानने से होता है। कोई भ्रम (Illusion) नहीं पालना है, और जो है और जैसा है, उसे वैसा ही जानना है। इससे दुःख होगा .....पीड़ा होगी..... क्योंकि वे स्वप्न टूटेंगे जो कि मधुर थे और जिनमें कि हम सम्राट थे। सम्राट तो मिटेगा...... भिखमँगा प्रगट होगा, सौन्दर्य मिटेगा और कुरूपता प्रगट होगी, शुभ वाष्पीभूत हो जायेगा और अशुभ के दर्शन होंगे.........वह पशु अपनी नग्नता में हमारे सामने होगा जो कि हममें छिपा है। यह आवश्यक है......अत्यंत आवश्यक है......इस पीड़ा से गुजरना अनिवार्य और अपरिहार्य (Inevitable) है, क्योंकि यह प्रसव-पीड़ा है और इसके बाद ही इस पशु से मिलन के बाद ही, हममें उसका बोध स्पष्ट होना शुरू होता है जो कि पशु नहीं है।

पशु का जिसे साक्षात् होता है, वह इस साक्षात् के कारण ही पशु से भिन्न और अन्य हो जाता है। यह जागरण... अपने पशु के प्रति......हमारे उससे तादात्मय (Identity) को तोड़ देता है। यह निरीक्षण......... निरीक्षित (Observer) से निरीक्षक (Observer) को अलग कर देता है। और, उस बिन्दु का हममें जन्म हो जाता है जिसकी पूर्णता पर कि आत्मा अनुभव होती है।

इसलिये, पाप से, पशु से, अँधकार से भागना साधना नहीं, पलायन है। वह शुतुरमुर्ग के तर्क की भाँति है जो कि शत्रु को देख रेत म मुँह छिपाकर

निश्चित खड़ा हो जाता है, यह सोच कि जो अब उसे नहीं दिखाई दे रहा है, वह अब नहीं है। काश, ऐसा ही होता......पर ऐसा नहीं है, शत्रु का न दिखाई पड़ना, उसका न हो जाना नहीं है। इस भाँति तो वह और भी घातक हो जायेगा......आप आँखें बन्द किये उसने और भी आसान शिकार हो जावेंगे! शत्रु है यदि तो आँखें और भी खुली चाहिये....उसका पूरा ज्ञान हमारे हितमें है। अज्ञान से अहित के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता है। मैं इस-लिये ही स्वयं की समग्र अंधकार स्थिति को उघाड़कर देखने को कह रहा हूँ।

अपने सारे वस्त्रों को अलग करके देखो कि आप क्या हो ?
अपने सारे सिद्धांतों को दूर रखके देखो कि आप क्या हो ?

रेत से मुँह बाहर निकालो और देखो......वह आँखका खोलना ही.....उस भाँति देखना ही, एक परिवर्तन है......एक नये जीवन की शुरुआत है। आँख खुलते ही एक बदलाहट शुरू हो जाती है, और उसके बाद ही जो हम करते हैं वह सत्य तक ले जाता है।

अंधकार की परतों को उघाड़कर प्रकाश तक चलना है। पाप की परतों को उघाड़कर प्रभु तक चलना है। अज्ञान के विनाश से आत्मा को उपलब्ध करना है। साधना का यही सम्यक् पथ है। और उसके पूर्व स्वप्न नहीं देखने हैं.....आत्मा और परमात्मा के स्वप्न नहीं देखने हैं.....सच्चिदानंद ब्रह्म स्वरूप के स्वप्न नहीं देखने हैं......वे सब शुतुरमुर्ग के रेत में मुँह छिपाने के उपाय हैं......वह पुरुषार्थ का मार्ग नहीं, पुरुषार्थहीनों की मिथ्या तृप्ति है।

रात्रि कोई पूछता था कि 'सत्संग' क्या है ? मैंने कहा: सत्संग यानी स्वयंका संग। सत्य बाहर नहीं है। कोई गुरु, कोई शास्त्र उसे अपको नहीं दे सकता है। वह भीतर है और उसे पाना है तो अपना साथ करो। अपने साथ होओ। **पर हम सबके साथ तो हैं, अपने साथ बिल्कुल भी नहीं हैं।**

इकहार्ट एक बार अकेले में था। किसी वृक्ष-कुंज के एकान्त कोने में बैठा था। उसका कोई परिचित वहाँ से निकला। वह इकहार्ट को अकेला देख उसके पास गया और बोला : "आपको अकेला देख मैंने सोचा कि चलूं

आपको साथ दूं ।" ज्ञात है, आपको कि इकहार्ट ने क्या उत्तर दिया ? उसने कहा : **'मैं अपने साथ था, आपने आकर मुझे अकेला कर दिया है ।"**

क्या इस भाँति कभी आप अपने साथ होते हैं ? वही सत्संग है, वही प्रार्थना है, वही ध्यान है ।

मैं जब अपने भीतर बिल्कुल अकेला ही हूँ ((Alone)).....और कोई विचार, किसी का विचार वहाँ नहीं है, तब स्वयं का साथ होता है । संसार जब भीतर अनुपस्थित होता है, तब स्वयं का साथ होता है । उस तनहाई और अकेलेपन में...... उस अपनी निपट निजता में सत्य का अनुभव होता है......क्योंकि आप अपनी आत्यंतिक सत्ता में स्वयं सत्य हैं ।

धार्मिक होने का सवाल है ..... धार्मिक दीखने का सवाल नहीं है । कोई मुझसे धार्मिक होने के लिये पूछता है तो उससे मैं सबसे पहले यही जिज्ञासा करता हूँ...... उससे पूछता हूँ कि आप धार्मिक दीखना चाहते हैं, या कि धार्मिक होना चाहते हैं ? ये दोनों दिशायें बिल्कुल ही भिन्न हैं ।

धार्मिक होना साधना है......धार्मिक दीखना अपने को सजाना है ! साधुओं के वेश......उनके बँधे-बँधाये रूप रंग....टीका-तिलक, वस्त्र-उपकरण ......यह सब धार्मिक दीखने के उपाय हैं । आप भी ऐसे ही दीखना चाहें, तो दीखना बहुत सरल है !

पर स्मरण रहे कि दीखना दूसरों के लिये है, होना अपने लिये हैं । **मैं वह नहीं हूँ, जो मुझे बाहर से जाना जाता है; मैं वह हूँ जो मैं स्वयं अपने को अपने भीतर से जानता हूँ ।**

मैं आपको स्वस्थ दीखता हूँ......क्या इसका कोई मूल्य है ? नहीं । मूल्य तो, मैं स्वस्थ हूँ, इसका है ।

धार्मिक वेशभूषाओं की भाँति धार्मिक गुण भी ओढ़ लिये जाते हैं । उन्हें भी लोग आभूषणोंकी भाँति पहन लेते हैं...वह धोखा और भी गहरा है ।

मनुष्य का आचरण दो भाँति से हो सकता है । असली फूलों की भाँति या कागज के फूलों की भाँति । एक का वृक्षों के प्राण से आना होता है, दूसरे में कोई प्राण ही नहीं होते हैं; इसलिये वे आते नहीं, उन्हें चिपकाना होता है।"

सत्याचरण आता है, मिथ्या आचरण चिपकाना होता है ।

मनुष्य का आचरण लाक्षणिक (Symbolic) है । वह उसके अंतस् को प्रगट करता है । उसे नहीं, अंतस् को बदलना ही अर्थपूर्ण है ।

शरीर उत्तप्त हो......ज्वरग्रस्त हो, तो हम उत्ताप कम करके बीमारी ठीक करने की नहीं सोचते हैं । हम ज्वर को कम करके उत्ताप कम करते हैं । उत्ताप तो ज्वर की सूचना मात्र है, वह स्वयं बीमारी नहीं है । **वह तो संकेत है. . . वह शत्रु नहीं है** । और जो उससे ही लड़ने लगें, उन्हें क्या कहियेगा ? धार्मिक जीवन के लिये नैतिक 'जीवन के लिये इसी तरह की नासमजी चलती है । संकेतों को ही शत्रु मान लिया जाता है..... और लक्षणों को ही बीमारी समझ उनसे हम संघर्ष शुरू कर देते हैं, इस भाँति बीमारी तो नहीं मिटती है, हाँ बीमार अवश्य मिट सकता है !

अहंकार, हिंसा, असत्य, काम, क्रोध, लोभ, मोह. . . सब लक्षण हैं, उत्ताप हैं, संकेत हैं । वे बीमारियाँ नहीं हैं । उनसे ही सीधे नहीं लड़ना है . . . उनसे तो जनना है कि भीतर शत्रु है । वह शत्रु आत्म-अज्ञान है ।

आत्म-अज्ञान ही बहुविधि रुपों में........अहंकार, हिंसा, असत्य, भय, काम, क्रोध......आदि में अभिव्यक्त होता है । इसके मिटाने से वह नहीं मिट सकता है, क्योंकि वह तो मूल है, ये तो मात्र उसकी अभिव्यक्तियाँ हैं । और, न ही इन्हें मिटाने से, इन्हें भी मिटाया जा सकता है । बस, असत्य के ऊपर सत्य के, और हिंसा के ऊपर अहिंसा के, और भय के ऊपर अभय के कागजी फूल ही चिपकाये जा सकते हैं । आपने भी ऐसे कुछ फूल जरूर ही चिपका लिये होंगे...... पर उनसे दूसरे धोखे में आ जावें......आप स्वयं तो धोखे में नहीं हैं न ?

असत्य, हिंसा और भय को दूर करने का सवाल नहीं है......सवाल आत्म-अज्ञान को दूर करने का है । वही समस्या है । उसके कारण इनका होना है, उसके न होने पर इनकी कोई सत्ता नहीं रह जाती है । वह न हो तो इनकी अपने आप निर्जरा हो जाती है । और इनकी जगह निरहंकारिता, सत्य, अकाम, अक्रोध, अहिंसा, अपरिग्रह का सहज ही आविर्भाव हो जाता है । वे भी लक्षण है । वे आत्मज्ञान के लक्षण हैं ।

---

६ जून १९६४

शब्द मृत हैं, वे सत्य नहीं हैं। उनका परिग्रह घातक है। उनके बोझ के नीचे दबकर फिर सत्य की यात्रा नहीं हो सकती है। पहाडों पर चढने को, पर्वतारोही को निर्भार होना होता है, ऐसे ही सत्य की यात्रा पर जो निकले हैं, अच्छा है कि वे शब्दों से निर्भार हो जावें। शब्दसे स्वतंत्र चेतना सत्य की ऊंचाइयां छूने में समर्थ हो जाती है।

"मैं आपको सत्य देने में असमर्थ हूँ । और, कोई कहे कि वह समर्थ है तो वह प्रारम्भ से ही असत्य दे रहा है ! सत्य देनेमें भी कोई समर्थ नहीं है । यह देने वाले की असमर्थता का नहीं, सत्य के जीवन्त होने का संकेत है । **वह वस्तु नहीं है कि उसे लिया दिया जा सके । वह जीवन्त अनुभूति है और अनुभूति स्वयं ही पानी होती है ।** मृत वस्तुयें ली दी जा सकती हैं, अनुभूतियाँ नहीं । क्या वह प्रेम..... प्रेम की वह अनुभूति जो मैंने जानी है, मैं आपके हाथों मे रख सकता हूँ ? क्या वह सौन्दर्य और संगीत जो मुझे अनुभव हुआ है, मैं आपको दान कर सकता हूँ ? उस आनन्द को मैं कितना चाहता हूँ कि आपको दे दूँ, जो मेरी इस साधारण सी दीखती देह में असाधारण रुप से घटित हुआ है...... पर कोई रास्ता उसे देने का नहीं है ! मैं तड़पकर ही रह जाता हूँ, कितनी असमर्थता है !

एक मेरे मित्र थे... उनके पास जन्मसे ही आँखें नहीं थीं, मैंने कितना चाहा कि मेरी दृष्टि उन्हें मिल जावे..... पर क्या वह हो सकता था ? शायद एक दिन वह हो भी जावे, क्योंकि आँखें शरीर की अंग हैं, और हस्तांतरित हो सकती हैं, पर वह दृष्टि जिससे सत्य उपलब्ध होता है, उसे तो कुछ भी चाहकर नहीं दिया जा सकता, वह शरीर की नहीं आत्मा की शक्ति है ।

आत्मा के जगत् में जो भी पाया जाता है, वह स्वयं ही पाया जाता है ।

आत्मा के जगत् में कोई ऋण संभव नहीं है । वहाँ कोई पर-निर्भरता संभव नहीं है । किसी दूसरों के पैरों पर वहाँ नहीं चला जा सकता है । स्वयं के अतिरिक्त वहाँ कोई भी शरण नहीं है ।

सत्य को पाना है तो स्व-शरण बनना आवश्यक है । वह शर्त अनिवार्य है ।

इसलिये, मैंने कहा कि मैं सत्य नहीं दे सकता हूँ । हस्तांतरण में केवल शब्द ही संवादित होते हैं......निर्जीव और निष्प्राण ....और सत्य सदा पीछे ही छूट जाता है । और, निश्चय ही मात्र शब्दों का संवादित होना, कोई संवाद नहीं है । वह जो जीवित है..... वह अर्थ, वह अनुभूति, जो कि उनका प्राण है, वह उनके साथ नहीं जाता है । वे खाली कारतूसों की तरह हैं, या मृत देहों...... लाशों की भाँति, जो आपके ऊपर बोझ तो बन सकते हैं, पर आपको मुक्त नहीं करते । शब्दों में सत्य की लाश ही हमारे हाथों पडती है...... जिसमें सत्य के हृदय की धड़कन बिल्कुल भी नहीं होती है ।

सत्य तो नहीं दिया जा सकता । पर मैं आपके इस बोझ को उतारने में अवश्य सहयोगी हो सकता हूँ जो सदियों ने आपके ऊपर घना और भारी कर दिया है । शब्दों के बोझ से मुक्त हो जाना आवश्यक है । यात्रियों पर रास्ते की धूल इकट्ठी हो जाती है.... जीवन की यात्रा में भी शब्दों और विचारों की धूल इकट्ठी हो जाती है..... यह सहज ही है । इस धूल को झाड़ देना आवश्यक है ।

शब्द मृत हैं.......वे सत्य नहीं हैं । किसी के भी शब्द सत्य नहीं हैं । उन्हें इकट्ठा न करें । उनका परिग्रह घातक है । उनके बोझ के नीचे दबकर फिर सत्य की यात्रा नहीं हो सकती है । **पहाड़ों पर चढ़ने को..... ऊँचाइयाँ छूने को, पर्वतारोही को निर्भार होना होता है। ऐसे ही सत्य की यात्रा पर जो निकले हैं, अच्छा है कि वे शब्दों से निर्भार हो जावें ।** शब्द से स्वतंत्र चेतना सत्य की ऊँचाईयाँ छूने में समर्थ हो जाती है ।

मैं एक ही अपरिग्रह सिखाता हूँ : शब्द और विचार का अपरिग्रह । उनका मृत बोझ आपकी यात्राको बहुत दुर्गम कर रहा है ।

च्वांग-त्से ने कहा है : "जाल मछलियाँ पकड़ने को है । कृपा कर मछलियाँ पकड़ लें और जाल को फेंक दें" । पर हम ऐसे मछुये हैं कि हमने जालों को पकड़ लिया है, और मछलियों को भूल गये हैं ! अपने सिर पर देखें । नावों को आप सिर पर लिये हैं, और उन पर यात्रा करना भूल गये हैं !

शब्द संकेत है । वह इशारा है । वह स्वयं सत्य नहीं है । इशारा समझ लें और उसे फेंक दें । उसे इकट्ठा करना लाशें इकट्ठी करनेसे भिन्न नहीं है ।

शब्द चाँद को इशारा करती हुई अंगुलियों की भाँति हैं (Fingers Pointing of the Moon))....जो इन अंगुलियों पर ही ध्यान केन्द्रित कर लेता है, वह लक्ष्य से चूक जाता है । **अंगुलियों की सार्थकता यही है कि वे आपको अपने से दूर ले जा सकें...वे आपको अपने में ही उलझा लें तो व्यर्थ ही नहीं, अनर्थ भी हो जाती हैं ।**

सत्य के सम्बन्ध में जो शब्द आपने सीख लिये हैं, क्या वे ऐसे ही अनर्थ नहीं हो गये हैं ? क्या उन्होंने ही आपको एक दूसरे से......मनुष्य को मनुष्य से नहीं तोड़ दिया है ? क्या तथाकथित धर्मों के नाम पर हुई समस्त मूढ़तायें और क्रूरतायें किन्हीं शब्दों के कारण ही नहीं हुई हैं ? क्या धर्मों के रुप में खड़े सारे सम्प्रदाय शब्द-भेद पर ही नहीं खड़े हुये हैं ?

सत्य तो एक ही है......और, एक ही हो सकता है । पर शब्द अनेक हैं । जैसे चाँद तो एक है, पर इशारा करती अंगुलियाँ अनन्त हो सकती हैं ।

सत्य को इंगित करते इन अनेक शब्दों को जिन्होंने पकड़ लिया है, उन्होंने धार्मिक संप्रदायों को जन्म दिया है । धर्मों का जन्म सत्य से नहीं, शब्दों से हुआ है ।

सत्य एक है । धर्म भी एक ही है । और, जो शब्दों को छोडने में समर्थ हैं, वे इस अद्वय धर्म को अद्वय सत्य को जान पाते हैं ।

इसलिये, मैं आपके शब्द-भार को और शब्दों से भारी नहीं करना चाहता हूँ । शब्दों के नीचे तो आपकी कमर टूटी जा रही है..... आपकी झुकी हुई गरदनों को मैं भली भाँति अनुभव कर रहा हूँ ।

सत्य को जिन्होंने जाना है, उनके ओंठ बिल्कुल बन्द हैं, उसके सम्बन्ध में उनसे कोई भी शब्द आता हुआ नहीं मालूम होता है । क्या इससे वे काफी नहीं कह रहे हैं......क्या वे नहीं कह रहे हैं कि निःशब्दता में ही सत्य है...... या कि निःशब्दता ही सत्य है ? पर, हम इसे नहीं समझ पाते हैं । हम शब्द के बिना कुछ भी नहीं समझ पाते हैं । हमारी सब समझ शब्द की है और तब वे शब्द से बोलते हैं..... उसे शब्द से बोलते हैं, जो कि शब्द से बोला ही नहीं जा सकता है ! उनकी करुणा शब्दों के द्वारा असंभव चेष्टा एक करती है और हमारा अज्ञान उन शब्दों को ही पकड़ लेता है ।

शब्द और अज्ञान मिलकर संप्रदाय बन जाते हैं ।

(शब्द+अज्ञान=संप्रदाय ।)

और इस भाँति हम पुनः सत्य से वंचित रह जाते हैं, और धर्म जितना दूर था, उतना ही दूर रह जाता है । शब्द से ऊपर उठना आवश्यक है तभी शब्द के पीछे जो है, उसका बोध होता है ।

शब्द स्मृति को ही भरते हैं : ज्ञान स्वयं उनसे नहीं आता है । और, स्मृति (Memory) को ज्ञान (Knowledge) न समझ लेना । जानना कि जो स्मृति है, वह मात्र स्मृति ही है । वह जानकारी (Learning) है.... वह ज्ञान नहीं है ।

रमण को कोई पूछता था कि मैं सत्य को जानने को क्या करूँ ? उन्होंने कहा: **'जो जानते हो, वह सब भूल जाओ ।'**

काश ! जो आप जानते हैं, उस सबको भूल सकें....तो उस भूलने से, उस निर्दोषता (Innocence) और सरल चित्तता (Simplicity) का जन्म होगा, जिसमें स्वयं को और सत्य को जाना जाता है । शब्द और शब्दों से निर्मित विचार जब आपकी चेतना पर भीड़ की भाँति नहीं छाये होते हैं ......तब उस मुक्त क्षण में प्रकाश के लिये द्वार मिलता है और आप ज्ञान से संयुक्त होते हैं ।

चेतना के द्वार और खिड़कियाँ खोलनी हैं......वस्तुतः चेतना को घेरने-वाली दीवारें ही तोड़ देनी हैं, तब उस प्रकाश से मिलन होता है, जो कि हमारा स्वरूप है ।

निश्चय ही, आकाशसे मिलने के लिये आकाश जैसा होना ही जरूरी है । उतना ही रिक्त और शून्य...उतना ही मुक्त और असीम । विचार यह नहीं होने देते । वे बदलियों की भाँति हमें घेरे हैं । इन बदलियों को विसर्जित करना है । तो मैं आपके चित्त पर विचारों के और बादल कैसे छोड़ूँ ?

मैं जो कह रहा हूँ या जो कि कहना चाहता हूँ और नहीं कह पा रहा हूँ**.....वह कोई विचार, कोई प्रत्यय (Idea) नहीं है । वह एक अनुभव है........एक साक्षात्** है । विचार ही होता तो कहा भी जा सकता था और

अनुभव भी बाहर का होता तो कोई न कोई शब्द उसकी सूचना दे ही देते, लेकिन वह अनुभव बाहर का नहीं है । **वह उसका है जो कि सब अनुभव करता है** । वह ज्ञाता का ज्ञान है.....इससे कठिनाई है ।

साधारणतः ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय भिन्न होते हैं.....साक्षात् और साक्षी भिन्न होते हैं, पर स्वयं के साक्षात् में वे भिन्न नहीं हैं । वहाँ ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय एक ही है । इससे शब्द एकदम ही व्यर्थ हो जाते हैं । वे उस संदर्भ के लिये निर्मित ही नहीं हैं । उस सीमा में उनका प्रयोग....उनकी सामर्थ्य और संभावना के बाहर उन्हें खींचना है । इस खींचतान में वे बिल्कुल अपंग और निष्प्राण हो जाते हों, तो कोई आश्चर्य नहीं है । और तब वे सत्य के शरीर की सूचना तो दे देते हैं, उसकी आत्मा का स्पर्श उनसे नहीं होता ।

सत्य, तब जाना जाता है, जब शब्द उपस्थित नहीं होते हैं, तो वे उसे प्रगट कैसे कर सकते हैं ? जो निर्विचारणा में उपलब्ध होता है, वह विचार में नहीं बाँधा जा सकता है ।

क्या आकाश को बाँधने का कोई उपाय है ? और, क्या जो बँध सके उसे हम आकाश कह सकेंगे ?

पर हम सत्य के सम्बन्ध में यही क्यों नहीं सोचते ? सत्य क्या आकाश से कम असीम है, या कम अनंत है ?

आकाश गठरियों में बँधा हुआ बाजार में बिकता हो, तो कोई भी नहीं खरीदेगा...... पर सत्य को हम खरीद लेते हैं !

सत्य, परमात्मा, मोक्ष.....सब बाजार में बिकते हैं । इसमें बेचने वालों का दोष नहीं है..... वे तो केवल खरीदारों की माँग की पूर्ति करते हैं !

और, जब तक सत्य के खरीदार हैं, ग्राहक हैं तब तक सत्य की दुकानें भी उठाई नहीं जा सकती !

धर्म के नाम पर चलने वाले सारे संगठन .....सारे संप्रदाय, दुकानों में परिणत हो गये हैं । वहाँ बना-बनाया (Ready-Made) सत्य आपको मिल जाता है । वस्त्र ही बने-बनाये नहीं मिलते हैं, सत्य मिल जाते हैं !

मैं आपको बना-बनाया सत्य नहीं दे सकता हूँ. . . .क्योंकि 'बना-बनाया-सत्य' जैसी कोई चीज होती ही नहीं है !

एक कथा मुझे स्मरण आ रही है। एक सद्गुरू ने अपने शिष्य से कभी कोई प्रश्न पूछा था. . .सत्य के सम्बन्ध में कुछ पूछा था। उसने कोई उत्तर दिया। गुरू ने कहा : 'ठीक है। ठीक है।'

पर दूसरे दिन गुरु ने फिर वही प्रश्न पूछा। शिष्य ने कहा :'कल तो मैंने आपको उत्तर दिया था?' गुरु ने कहा : 'आज फिर दो'। शिष्य ने वही उत्तर दोहरा दिया था तो गुरू ने कहा था : 'नहीं नहीं।' शिष्य हैरान हुआ। उसने पूछा : कल 'आपने कहा 'हाँ' आज 'नहीं' क्यों कहते हैं?'

गुरु ने क्या कहा जानते हैं ? कहा: **'कल 'हाँ' था आज 'नहीं' है!'**

इस कथा का अर्थ क्या है ? आप समझे ? अर्थ है कि उत्तर बँधा हुआ हो गया. . . . .वह एक ढाँचे (Pattern) में कैद हो गया . . .वह एक धारणा (Concept) में आबद्ध हो गया . . .**और इसलिये वह उत्तर जीवित न रहा, मर गया।** वह स्मृति का ही हिस्सा था. . . वह ज्ञान नहीं था। हमारी स्मृति ऐसे ही मृत उत्तरों से भरी हुई है और इसलिये जो जीवित है, उसका इन मुर्दों के कारण आविर्भाव नहीं हो पाता।

मित्र, स्मृति नहीं, अनुभव को, अनुभूति को जगाना है। स्मृति मृत-भार है, अनुभूति जीवित-मुक्ति है।

सत्य के अनुभव को पूर्व निश्चित नहीं किया जा सकता है। उसे किसी भी दर्शन, किसी भी धर्म और किसी भी विचार प्रणाली की बँधी-बँधाई शब्दावली और परिभाषा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। वह किसी भी विचार-सरिणी या विचार -सूत्र (Formula) के अनुकूल ही सिद्ध हो, यह आकांक्षा भी नहीं की जा सकती है। उसे बाँधने के सब उपाय व्यर्थ हैं। **उसे नहीं बाँधना है, विपरित अपने को ही खोलना है। उसे पाने का उपाय उसे बाँधना नहीं, वरन् स्वयं को ही खोलना है।**

सत्य को मत बाँधो. . . .अपने को खोलो। यही एकमात्र राह उसे पा लेने की है।

सत्य का अनुभव, अनुभव से ही उपलब्ध होता है : स्वानुभव के पूर्व उसे किसी और भाँति नहीं जाना जा सकता है। केवल अनुभव......और केवल अनुभव ही निर्णायक है।

मैं एक पर्वतीय झरने के करीब था। उसके जल को मैंने पिया और जाना कि वह मीठा था....ऐसा ही सत्य के सम्बन्ध में भी है। पियो और जानो...वह एक ऐसा स्वाद है, जो बस केवल लेकर ही जाना जा सकता है।

सत्य आपके ज्ञान की उत्पत्ति नहीं है ....वह आपका सृजन नहीं है। उसे आप बनाते नहीं हैं। कोई भी नहीं बनाता....न बना सकता है। वह तो है। इसलिये, वह बना-बनाया नहीं मिल सकता। वह तो सदा से है .... आप आँख खोलते हैं तो वह दीखता है, आप आँख बन्द रखते हैं तो वह नहीं दीखता। वह प्रकाश की ही भाँति है।

उसे खरीदना नहीं है....बहस आँख ही खोलनी है। और, तब सत्य अपनी पूर्ण मौलिकता में, अपनी पूर्ण शुद्धता में, अपनी पूर्ण सत्ता में उठता है और आपको परिवर्तित कर देता है। यह हो सके, इसके लिये जरूरी है कि अपने को बासे और उधार विचारों से विकृत मत करो..और किसी की जूठन और उतारे हुये वस्त्रों को ग्रहण मत करो।

क्या आपको ज्ञात नहीं है कि जीवन किसी भी बासी और मृत चीज को स्वीकार नहीं करता है ?

फिर, मैं आपसे क्या कहूँ? सत्य के सम्बन्ध में तो नहीं कहूँगा.....फिर किस सम्बन्ध में कहूँ ।

सत्य को कैसे जाना जा सकता है....इस सम्बन्ध में मैं आपसे कहूँग। **प्रकाश के सम्बन्ध में तो नहीं ......पर आँखें कैसे प्रकाश के प्रति खोली जा सकती हैं, इस सम्बन्ध में मैं कहूँगा।** मैं जो देख रहा हूँ ...वह तो नहीं, लेकिन कैसे मैं देख रहा हूँ, वह कहूँगा। वही कहा जा सकता है। और यह भी सौभाग्य है कि कम से कम उतना तो कहा जा सकता है !

धर्म का सम्बन्ध -वास्तविक धर्म का सम्बन्ध सत्य के सिद्धान्त (Doctrine) से नहीं, सत्य को जानने की विधि (Method) से है।

मैं इसलिये सत्य के सम्बन्ध में तो कुछ भी नहीं कहूँगा . . . . मैं उसे, आपको, जानने के पहले जाना हुआ नही बनाना चाहता । मै तो आपको उस स्थान तक ले चलना चाहता हूँ जहाँ आप स्वयं उसे जान सकेंगे . . . . . . उस बिन्दु तक जहाँ से उसके दर्शन संभव हैं . . . . उत्ताप के उस क्षण तक जहाँ आपका अज्ञान बाष्पीभूत हो जाता है . . . और उस अग्नि-शिखा से मिलन होता है जो कि आप स्वयं हैं ।

इसलिये, अब हम उस विधि की बात करें ।

सत्य के मार्ग पर जाने वालों को दो द्वार मालूम होते हैं । एक मार्ग है सत्य के विचार का, एक है सत्य की साधना का । एक है तर्कणा का, एक है योग का । एक है तत्व-चिन्तन का, एक है तत्व-साधना का । ऐसे दो द्वार मालूम होते हैं . . . . पर मेरे देखे तो द्वार एक ही है, दूसरा है नहीं, केवल प्रतीत ही होता है । वह दूसरा आभास ही है । **सत्य के विचार का द्वार...... वास्तविक द्वार नहीं** । है वह आभास-द्वार है और अनेक उस भ्रम में खो जाते हैं ।

सत्य के विचार से . . . सत्य पर विचार से . . . विचार के द्वार से कहीं पहुँचते नही हैं । वह ले जाता है, पर कहीं पहुँचाता नहीं है । उस पर बहुत चलकर भी पाया जाता है कि आप वहीं खड़े हैं, जहाँ से प्रारम्भ किया है । वह प्रारम्भ ही है, अंत उसमें नहीं है . . और जिसका अंत नहीं है, उसका प्रारम्भ केवल आभास ही हो सकता है!

विचार में क्या करेंगे? सत्य को विचारेंगे कैसे? **जो ज्ञात नहीं है, वह विचारा नहीं जा सकता** । विचार अज्ञात को कैसे विचारेगा? उसकी तो ज्ञात के भीतर ही गति है ।

विचार समस्यायें दे सकता है, समाधान उससे नहीं आता । जो उसके ही पीछे चलेगा वह एक अराजकता (Anarchy) में खो सकता है . . . एक विक्षिप्तता में उसके चित्त की परिणति हो सकती है । अनेक विचारकों का विक्षिप्त हो जाना आकस्मिक और अनायास नहीं है। **वह विचार का अंतिम निष्कर्ष है । वह विचार की चरम गति है ।**

सत्य के साक्षात् के लिये विचार का मार्ग कोई मार्ग ही नहीं है ।

एक कथा कहूँ? एक अद्‌भूत कथा। एक आदमी दुनियाँ के अंतिम छोर की तलाश में निकला। बहुत यात्रा..... अनन्त यात्रा के बाद वह एक ऐसे मन्दिर के पास पहुँचा, जहाँ लिखा हुआ था: 'यहाँ दुनिया समाप्त होती है!' (This is the end of the world)) वह हैरान हुआ पर विश्वास नहीं कर सका। बात थी भी कितनी अविश्वसनीय! और वह और भी आगे बढ़ता गया और अंततः जल्दी ही उस जगह पहुँच गया जहाँ कि विश्व का अंत था। एक अनन्त खड्ड सामने था....और अनन्त शून्य....उसने झाँका..वहाँ तो कुछ भी नहीं और उसकी साँसें बन्द-सी हो गई और उसका सिर चकरा गया....और वह लौटकर भागा....और फिर वह पीछे लौटकर नहीं देख सका था।

यह कथा विचार के अन्त की कथा है। हम यदि सत्य के सम्बन्ध में सोच रहे हैं तो हम सोचेंगे, सोचेंगे, सोचेंगे और तब हम एक ऐसी जगह पहुँचेंगे जहाँ और नहीं सोचा जा सकता। वही अन्त है....विचार का अन्त.... एक खड्ड .... अनन्त खड्ड सामने होगा और हमारा मान और आगे कदम लेने से इंकार कर देगा। विचार में यह घड़ी आती है। यदि हम अंत तक उसका अनुसरक करें तो। वह अपरिहार्य (Inevitable) है। और, यदि आपको लगता हो कि अभी कुछ और विचार करने को शेष है तो आप समझें कि अभी वास्तविक अंत नहीं आया है। जब कुछ भी विचार करने को शेष नहीं है,....कुछ भी, और एक भी कदम आगे नहीं उठाया जा सकता तब यह वास्तविक अंत है और आप उस मंदिर के करीब पहुँच गये हैं जहाँ कि दुनियाँ समाप्त होती है!

वह आदमी जो कि दुनियाँ के अंत पर पहुँच गया था यदि मुझसे पूछता कि अब वह क्या करे? तो मैं उसे भागने की सलाह नहीं देता! जानते हैं कि मैं उसे क्या सलाह देता? **मैं उसे कहता कि इतनी यात्रा की है तो अब एक कदम और उठालो।....अन्तिम और सबसे महत्वपूर्ण कदम...वह खड्ड, वह शून्य जो सामने है उसमें साहसपूर्वक कूद जाओ। एक ही कदम की और आवश्यकता है और स्मरण रहे कि जहाँ जगत् का अन्त होता है, वहीं से प्रभु का प्रारम्भ होता है।**

वह बिन्दु जो कि जगत के अन्त का है, उससे महत्वपूर्ण बिन्दु और कोई भी नहीं है, क्योंकि वही प्रभु के प्रारम्भ का बिन्दु भी है।

विचार जहाँ समाप्त होता है, वहीं दर्शन प्रारम्भ होता है।

विचार जहाँ समाप्त है, वहीं सत्य का साक्षात् है।

विचार से निर्विचार में कूदना है, शब्द से शून्य में कूदना है . . . .यही विधि है। यही साहस है, यही तप है, यही साधना है।

इस जगह यदि आपको ब्रह्मा—विष्णु—महेश दिखाई पड़ते हों तो जानना कि आप अभी भी सोच ही रहे हैं। यदि महावीर, बुद्ध या कृष्ण दिखाई पड़ें तो जानना कि आप अभी भी स्वप्न ही देख रहे हैं। फिर, यह वास्तविक अंत नहीं है। वास्तविक अंत तब है, जबकि सोचने को कुछ भी नहीं है. . .देखने को कुछ भी नहीं है. . . .जानने को कुछ भी नहीं है। **आप हैं और शून्य है. . . आप भी कहाँ हैं ? शून्य ही है !**

दुनियाँ के अंत पर खड़े हैं। चित्त लौटना चाहेगा. . . .पूरी शक्ति से लौटना चाहेगा. . .इसी समय साहस की अपेक्षा है और एक और कदम उठाने की जरूरत है। एक कदम और. . .एक छलाँग ही बस अपेक्षित है और फिर सब बदल जाता है।

फिर, विचार नहीं है, दर्शन है।

फिर आप जानते हैं . . .सब जानना छोडते हैं, तब जान पाते हैं, सब देखना छोडते हैं, तब देख पाते हैं। . . .और सब भाँति जब मिट जाते हैं तब हो पाते हैं।

साधना मृत्यु में कूदना है. . .पर उसके द्वार ही अमृत का साक्षात् होता है।

विचार नहीं, विचार से छलाँग विधि है। विचार से छलाँग ध्यान (Meditation) है। मैं रोज उसकी ही बात कर रहा हूँ। विचार चैतन्य के सागर पर उठी तरंगे हैं। . . . . . .क्षणभंगुर बुद-बुदे जो कि बन भी नहीं पाते कि मिट जाते हैं। उनसे विक्षुब्ध और अशान्त सतह की सूचना

मिलती है। उनमें जो है, वह गहराई मे नहीं हो सकता। उनमे होना ही उथले में होना है। विचारमात्र उथले हैं...कोई विचार गहरा नहीं हो सकता है, क्योंकि कोई लहर गहरे में नहीं हो सकती है। **लहर सतह की ही संभावना है। विचार भी चेतना की सतह के खेल हैं। लहरों में झील नहीं है.... झील में लहरें हैं। लहरें बिना झील के नहीं होगीं, पर झील बिना लहरों के हो सकती है।**

विचार बिना चेतना के नहीं हो सकते है, पर चेतना निर्विचार हो सकती है। वह मूल है ....आधार है। उसे जानना है तो लहरों से पीछे चलना होगा....लहरों का अतिक्रमण करना होगा। सागर के किनारे नहीं बैठ रहना है। कबीर ने कहा है: 'मैं बौरी खोजन गई, रही किनारे बैठ!' ऐसे आप भी मत बैठ जाना। **किनारे पर कुछ भी नहीं है, जिसका किनारा है, उसमें चलना है। किनारा केवल उसमें कूद जाने के लिये ही उपयोगी है!**

पर, यह भी हो सकता है, कि कोई किनारे पर तो न हो, पर लहरों में तैरे। **मेरी दृष्टि में वह भी किनारा ही है! जो डूबने से रोके वही किनारा है!** विचार मे तैरते हुये लोग ऐसे ही हैं। वे किनारा छोड़ने के भ्रम में हैं, पर उन्होंने किनारा छोड़ा नही है।

महावीर का निर्बाण हुआ तो उन्होंने बाहर गये अपने प्रिय गौतम के लिये एक दिशा—सूचक सूत्र छोड़ा था। उन्होंने कहा था: 'गौतम को कह देना कि तू सारी नदी तो पार कर गया है पर अब किनारे को क्यों पकड़े है..उसे भी छोड़ दे।' वे किस किनारे की ओर इशारा कर रहे थे? मै भी उसी की बात कर रहा हूं। वह विचार का किनारा है ....वह विचार मे तैरनेका किनारा है।

सत्य तैरने से नहीं, डूबने से मिलता है...तैरना सतह पर है, डूबना उन गहराईयों में ले जाता है जिनका कि कोई अंत नही है।

विचार के किनारे से शून्य की गहराई में कूदना है।

९६

बिहारी की एक मीठी पंक्ति है : 'अनबूडे बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग।' जो अधूरे डूबे थे, वे डूब ही गये और संपूर्ण डूब गये थे, वे तर गये ! आपके क्या इरादे हैं . . . . पार होना है तो डूबने का साहस आवश्यक है!

मैं वही डूबना . . . . . वही मिटना सिखा रहा हूँ ताकि आप पार हो सकें। ताकि आप वह हो सकें जो कि आप हैं।"

परिशिष्ट–१

प्रश्नोत्तर

प्रश्न १ : सत्य देने मे कोई भी समर्थ नहीं है. . . . पर क्या आपकी बातें सत्य नहीं हैं ?

☆ मैं जो कह रहा हूँ, वह केवल इशारा है। उसे ही सत्य नहीं समझ लेना है। सत्य उस इशारे से बहुत दूर है। **उस इशारे को नहीं, जिस तरफ इशारा है, वहाँ देखना है।** उस तरफ देखने पर जो स्वयं दीखेगा वह सत्य है। उस सत्य को कहने का मार्ग नहीं है। वह कहते ही असत्य हो जाता है। **वह अनुभव तो बनता है, पर अभिव्यक्ति बनता है।**

प्रश्न २ : पूर्णतया डूबने को आप कहते हैं . . . . वह हम कैसे करें ?

☆ मैं जैसा देखता हूँ उस अनुभव के आधार पर आपसे कहता हूँ कि डूबने से. . . . स्वयं में डूबने से ज्यादा सरल और सुगम और कोई बात नहीं है। उसके लिये इतना ही करना है कि **चित्त की सतह पर कोई भी सहारा न पकड़े।** विचार को पकड़ने से डूबना नहीं हो पाता है। उसके सहारे ही फिर हम सतह पर रह जाते हैं।

विचार को पकड़ने की हमारी आदत है। एक विचार छूटता है तो हम दूसरा पकड लेते हैं। पर दो विचारों के बीच में जो अंतराल (Interval) है, उसमें हम कभी नहीं जाते हैं। **वह अंतराल ही गहराई में डूबने की राह है। विचारों में नहीं, उसमें चलें जो कि विचारों के बीच में है।**

यह कैसे होगा ? यह होगा : विचार प्रवाह के प्रति जागने से। जैसे कोई चलती राह को किनारे से खड़े होकर देखता है, ऐसे ही अपने भीतर मन

की राह पर चलते विचार–यात्रियों को देखें। **उन्हें देखें मात्र**। उनमें से किसी का चुनाव न करें। किसी को चुनें नहीं और न किसी के प्रति कोई निर्णय लें।

असंग और अलिप्त भावसे, उनके दर्शन से, उन पर बँधी हमारी मुट्ठियां खुल जाती हैं और हम विचारों पर नहीं, विचारों के बीच में जो अंतराल है उसमें खड़े हो जाते हैं। पर अंतराल तो आधारहीन है, इसलिये उसमें खड़े होना संभव नहीं है। उसमें तो खड़े होने से ही डूबना हो जाता है। और यह डूब जाना ही वास्तविक आधार को पा लेना है. . . क्योंकि इस भाँति ही वह सत्ता मिलती है जो कि हम स्वयं हैं।

विचारों के जगत् में जो आधार खोज रहा है, वह निराधार में लटका हुआ है और जो वहाँ स्वयं को निराधार कर लेता है, वह स्वयं के आधार को पा जाता है।

प्रश्न ३ : मैं मन को जीतना चाहता हूँ, पर वह तो एक असंभावना मालूम होती है. . . पर आप कहते हैं कि वह बहुत सरल बात है ?

☆ मैं जीत के विचार में ही जीत की असंभावना के बीज देखता हूँ। वह भूल ही जीतने नहीं देती है। यदि आप अपनी ही छाया को जीतना चाहेंगे तो क्या उसे जीत सकते ह? **छाया तो यह जानते ही कि छाया है, जीत ली जाती है !**

छाया को जीतना नहीं, जानना ही होता है। और छाया के सम्बन्ध में जो सच है, वही मन के सम्बन्ध में भी सच है।

मैं, आपको मन को जीतने को नहीं, जानने को कहता हूँ ?

बोधिधर्म से किसी ने पूछा था. . . . प्रार्थना की थी : 'मेरा मन बहुत अशान्त है, कृपा करके उसे शान्त करने का उपाय बता दें?' बोधिधर्म ने कहा: **'कहाँ है तुम्हारा मन. . . . . लाओ, मैं उसे शान्त कर दूँ।'**

वह प्रार्थी बोला : 'यही तो मुश्किल है कि वह पकड़ में नहीं आता है।'

मैं होता तो कहता कि उसे पकड़ो ही मत और जाने दो। पकड़ना चाहते हो यही अशान्ति है। छाया को क्या पकड़ा जा सकता है?

बोधिधर्म ने क्या कहा? उसने कहा: 'लो, मैंने शान्त कर दिया न?'

हम यदि अपने मन को केवल देखें और पकड़ने और जीतने में न लगें तो वह पाया ही नहीं जाता है?

पहले पूछा जाता था कि क्या आप अश्व को वशी–भूत करने के लिये उसे थकाना चाहते हैं, या कि वल्गा को मजबूत करना चाहते हैं? मन को जीतने की ये दो पद्धतियाँ रहीं हैं। पर मैं इन दोनों में से कोई भी उत्तर नहीं देता हूँ। **मैं कहता हूँ पहले देखो भी कि अश्व है या नहीं? जो है ही नहीं, उसे हम थकाने और बाँधने में लगे हैं! वे दोनों ही प्रयास असत्य हैं. . . . क्योंकि अश्व है ही नहीं! अश्व हमारी मूर्च्छा की छाया है। मैं जाग जाऊँ तो कोई अश्व नहीं है. . . कोई मन नहीं है, जिसे जीतना है या कि जिससे हारना है।**

प्रश्न ४ : विचार के अपरिग्रह को आप कहते हैं..क्या शुभ विचार भी संग्रह योग्य नहीं हैं?

☆ यदि उसे जानना है जो कि आपका स्वरूप है, तो शुभ-अशुभ दोनों से शून्य और रिक्त हो जाना जरूरी है। शुभ-अशुभ विचार सब परिग्रह हैं। उनका आगमन बाहर से हुआ है। वे आस्रव हैं। उनके आच्छादन और आवरण में ही स्वरूप छिपा हुआ है।

विचार मात्र आच्छादन हैं। उनकी जंजीरों को तोड़ना आवश्यक है। **फिर जंजीरें लोहे की हैं या स्वर्ण की इससे भेद नहीं पड़ता है।**

जो भी बाहर से आया है, वह सब परिग्रह है। अपरिग्रह का अर्थ है: चेतना की वह शुद्ध अवस्था जहाँ बाहर आया कोई भी प्रभाव (Impression) अनुपस्थित है। संस्कारों (Conditionings) के अभाव में ही आत्मा का सद्भाव होता है। उसके उद्घाटन के लिये संस्कार शून्यता (Unconditioned Mind) की भूमिका चाहिये। पर हम सब तो विचारों से भरे हैं।

और जो धार्मिक हैं वे तो धार्मिक विचारों से अत्याधिक भरे हुये हैं। धार्मिक होने का यही अर्थ समझा जाता है। धर्म-ग्रन्थों से भर जाना धार्मिक होना समझा जाता है। यह बिल्कुल ही भूल की बात है।

एक सद्गुरु ने अपने एक विद्वान शिष्य से कभी कहा था: 'और, सब तो बिल्कुल ठीक है, केवल एक भूल ही और तुममें रह गई है।' वह शिष्य बहुत दिन तक सोचता रहा पर उसे अपने आचरण में तो कोई भूल नहीं दिखाई पड़ती थी। उसने गुरु पूछा। गुरू ने कहा: **'धर्म तुममें बहुत ज्यादा भरा हुआ है....उससे तुम बहुत भरे हुये हो!** (You have altogether too much of Rieligion))..**यही एक भूल और शेष रह गई है, और, यह कोई छोटी भूल नहीं है।'**

धर्म तो क्या ज्यादा हो सकता है...धर्म शास्त्र ज्यादा हो सकते हैं... ....धार्मिक विचार ज्यादा भरे हुये हो सकते हैं। उनसे भरा हुआ चित्त इतना भारी होता है कि सत्य के आकाश में उड़ान नहीं भर सकता है! इसलिये मैं खाली हो जाने को कहता हूँ। विचार मात्र से अपने को खाली कर लो.. संस्कार मात्र से अपने को शून्य कर लो...और फिर देखो कि उस शून्य में क्या घटित होता है? उस शून्य में जीवन का सबसे बड़ा चमत्कार (Miracle) घटित होता है। **वह शून्य आपको स्वयं के आमने सामने कर देता है। इससे बड़ा कोई चमत्कार नहीं है क्योंकि आप स्वयं के सामने होते ही परमात्मा के सामने हो जाते हैं!**

प्रश्न ५: मैं मूर्ति पूजक हूँ...पर आपके विचारों से ज्ञात होता है कि मूर्ति की कोई आवश्यकता नहीं है। क्या मैं मूर्ति पूजा छोड़ दूं?

★ मैं कुछ भी छोड़ने पकड़ने को नहीं कहता। मैं तो आप जागें, इसके लिये पुकार रहा हूँ। जाग जाने पर स्वप्न छूट जावें तो बात दूसरी है। चेतना के तल के साथ ही सब व्यवहार बदल जाता है। बच्चे बड़े हो जाते हैं, तो उनके गुड्डा-गुड्डियों के खेल अपने आप ही छूट जाते हैं। उन्हें छोड़ना नहीं पड़ता है, वे छूट ही जाते हैं।

एक गाँव के अंत पर एक साधु रहता था। अकेला, एक झोपड़े में.. जिस में कि द्वार भी नहीं थे, और कुछ भी नहीं था जिस के लिये कि द्वारों की आवश्यकता हो! एक दिन कुछ सैनिक उधर आये। वे उस झोपड़े में जल माँगने गये। उनमें से किसी ने साधु से पूछा: 'आप कैसे साधु हैं? कि आपके पास भगवान की कोई मूर्ति भी नहीं दिखाई पड़ती है,' वह साधु बोला: 'यह झोपड़ा देखते हैं कि बहुत छोटा है।..**इसमें दो के रहने के योग्य स्थान कहाँ है?'** उसकी यह बात सुनकर वे सैनिक खूब हँसे और दूसरे दिन भगवान की एक मूर्ति लेकर उसे भेंट करने गये। पर उस साधु ने कहा: 'मुझे भगवान की मूर्ति की कोई आवश्यकता नहीं है।...**क्यों कि बहुत दिन हुये तबसे वे ही यहाँ रहते हैं, 'मैं' तो मिट ही गया हूँ। देखते नहीं हैं कि यहाँ दो के रहने के योग्य स्थान नहीं है?'** और उन सैनिकों ने देखा कि वह अपने हृदय की ओर इशारा कर रहा था। वही उसका झोपड़ा था!

परमात्मा अमूर्त है। शक्ति अमूर्त ही हो सकती है। वह निराकार है। चेतना का आकार नहीं हो सकता। वह असीम है। सर्व (Totality) की कोई सीमा नहीं हो सकती है। वह अनादि है, अनन्त है क्योंकि 'जो है' उसका आदि अन्त नहीं हो सकता है।

और हम कैसे बच्चे हैं कि हम उसकी भी मूर्तियाँ बना लेते हैं? और फिर इन स्व-निर्मित मूर्तियों की पूजा करते हैं!

मनुष्य ने अपनी ही शकल में परमात्मा को गढ़ लिया है और फिर इस भाँति अपनी ही पूजा स्वयं ही किया करता है! **आत्मवंचना, अहंकार और अज्ञान की यह अति है।**

भगवान की पूजा नहीं करनी होती है...**भगवान को जीना होता है। उसकी, मंदिर में नहीं, जीवन में प्रतिष्ठा करनी होती है।** वह हृदय में विराजमान हो और स्वाँस-स्वाँस में परिव्याप्त हो जावे...ऐसी साधना करनी होती है। और इसके लिये जरूरी है कि 'मैं' विलीन हो। अभी तो वह....'मैं'....हृदय में विराजमान है और स्वाँस-स्वाँस में परिव्याप्त है! उसके रहते

प्रभु-प्रवेश नहीं हो सकता है। कबीर ने कहा है न कि वह प्रेम की वह गली 'अति सांकरी' है और इसलिये उसमें दो नहीं बन सकते।

एक रात्रि मैं देर तक दिया जलाये पढ़ता था। फिर दिया बुझाया तो हैरान हो गया। बाहर पूरा चाँद था। पर मेरे दिये के टिम-टिमाते प्रकाश के कारण उसकी चाँदनी भीतर नहीं आ पा रही थी। यहाँ दिया बुझा ही था कि चाँद ने अपने अमृत-प्रकाश से मेरे कक्ष को आलोकित कर दिया था। **उस दिन जाना था कि 'मैं' का दिया जब तक जलता रहता है, तब तक प्रभु-प्रकाश द्वार पर ही प्रतीक्षा करता है। और उसके बुझते ही, वह वह प्रविष्ट हो जाता है। उसका–'मैं' का बुझना... निर्वाणही, प्रभु प्रकाश का– प्रभु का आना भी है।**

भगवान की मूर्ति मत बनाओ... 'मैं' की मूर्ति तोड दो... उसका अभाव ही भगवान का सद्भाव है।

परिशिष्ट—२

कुछ स्फुट विचार

सत्य का दर्शन कितनी सरल बात है, लेकिन सरलतम को ही देख पाना सदा कठिनतम रहा है।

यह इसीलिए कि जो सरल है और निकट है, वह सरल और निकट होने के कारण ही भूल जाता है। हम दूर में उलझे रहते हैं और इसलिये निकट दृष्टि से ओझल हो जाता है: और हम पर में व्यस्त (Occupied) होते हैं इसलिये स्व की विस्मृति हो जाती है।

नाटक में क्या ऐसा नहीं होता है कि देखने वाले दृश्यों में इतने खो जाते हैं कि स्वयं को भूल ही जावें? ऐसा ही जीवन में भी हुआ है। वह भी एक बड़ी नाट्यशाला है और हमने दृश्यों की तल्लीनता में दृष्टा को. . . . स्वयं को खो ही दिया है।

सत्य को, स्वयं को पाने को कुछ और नहीं करना है, बस दृश्यों से, नाटक से जागना भर है।

मैं देखता हूँ कि आपके आसपास निरंतर एक अशान्ति का घेरा बना रहता है। आपके उठते-बैठते-चलते-सोते वह प्रगट होता रहता है। वह आपकी प्रत्येक छोटी बड़ी प्रक्रिया में उपस्थित होता है। क्या आप भी यह अनुभव नहीं करते ह? **क्या आपने कभी देखा है कि आप जो भी कर रहे हैं, सब अशान्ति में कर रहें हैं?**

इस अशान्ति के घेरे को तोडना है और एक शान्ति का घेरा (Zone of silence) पैदा करना है। उस भूमिका में ही आप उस आनन्द की और

उस संगीत को अनुभव कर सकेंगे जो कि निरंतर आपके ही भीतर मौजूद है पर अपने ही आंतरिक कोलाहल के कारण जिसे सुन पाना और जी पाना संभव नहीं हो रहा है।

मित्र, बाहर का कोलाहल कोई विघ्न-बाधा (Disturbance) नहीं है। हम भीतर शान्त हों तो वह है ही नहीं। हम भीतर अशान्त है, यही एकमात्र बाधा है।

सुबह कोई मुझसे पूछता था : 'भीतर शान्त होने के लिये क्या करें?' मैंने कहा : 'फूलों को देखो। उनके खिलने को देखो। पहाड़ के झरनों को देखो ....और उनके बहने को देखो। क्या वहाँ कोई अशान्ति दिखाई देती है? सब कितना शान्ति से हो रहा हैं। **मनुष्य को छोडकर कहीं भी अशान्ति नहीं** है। इस भाँति हम भी जी सकते हैं। इस तरह जिओ और अनुभव करो कि आप भी निसर्ग के एक अंग हो। **'मैं' की पृथकता ने सब अशान्ति और तनाव पैदा कर दिया है?'**

'मैं' शून्य होकर कार्य करो और आप पाओगे कि एक अलौकिक शान्ति भीतर अवतरित हो रही है।

हवाओं में समझो कि आप भी हवा हो....और वर्षा में समझो कि आप भी वर्षा हो...और फिर देखो...कैसी शान्ति क्रमशः घनी होने लगती है!

आकाश के साथ आकाश हो जाओ और अंधकार के साथ अंधकार और प्रकाश के साथ प्रकाश ....अपने को अलग न रखो और अपनी बूंद को सागर में गिरने दो...फिर वह जाना जाता है जो कि संगीत है, जो कि सौन्दर्य है, जो कि सत्य है।

मैं चलूं तो मुझे स्मरण होना चाहिये कि मैं चल रहा हूँ। मैं उठूँ तो मुझे होश होना चाहिये कि मैं उठ रहा हूँ। कोई भी क्रिया ....शरीर से या मन से ....मूर्च्छित और बेहोशी में नहीं होनी चाहिये। इस भाँति जागकर अप्रमाद से...जीवनाचरण करने से चित्त अत्यंत निर्मल और निर्दोष

और पारदर्शी हो जाता है। इस भाँति के अप्रमत्त जीवन आचरण से ध्यान हमारे समग्र जीवन—व्यवहार पर परिव्याप्त हो जाता है। उसकी अंत:धारा अहर्निश हमारे साथ बनी रहती है। वह हमें शान्त करती है और हमारे व्यवहार को शुद्ध और सात्विक बनाती है। यह स्मरणीय है कि जो व्यक्ति अपनी प्रत्येक शारीरिक और मानसिक क्रिया में सजग और जाग्रत है, उससे किसी दूसरे के प्रति कोई दुर्व्यवहार असंभव है। दोषों के लिये मूर्च्छा आवश्यक है। इसलिये, अमूर्च्छा में उनका परिहार सहज ही हो जाता है।

समाधि को मैं महामृत्यु (Great death) कहता हूँ। वह है भी। साधारण मृत्यु से मैं मिटूंगा, पर पुन: हो जाऊँगा क्योंकि मेरा 'मैं' उसमें नहीं मिटेगा। वह 'मैं' नये जन्म लेगा और नई मृत्युओं से गुजरेगा। साधारण मृत्यु वास्तविक मृत्यु नहीं है, क्योंकि उसके बाद फिर जन्म है, और फिर मृत्यु है......और यह चक्रीय गति उस समय तक है। जब तक कि समाधि की महा-मृत्यु आकर जन्मों और मृत्युओं से छुटकारा दे देती है। **समाधि महामृत्यु है क्योंकि उसमें 'मैं' मिट जाता है और उसके साथ ही जन्म और मृत्यु भी मिट जाते हैं। और जो शेष रह जाता है वही जीवन है।** समाधि की महामृत्यु से अमृत जीवन उपलब्ध होता है। उसका न जन्म है, न मृत्यु है। उसका न तो आदि है, न अन्त है। इस महामृत्यु को ही हम मोक्ष कहते हैं, निर्वाण कहते हैं ....ब्रह्म कहते हैं।

मेरी सलाह है कि ध्यान को काम नहीं, विश्राम समझना है। अक्रिया का यही अर्थ है. . . .वह पूर्ण विश्राम है, समस्त क्रियाओं का पूर्ण विराम है। और जब समस्त क्रियायें शून्य होती हैं और चित्त के सब स्पंदन विलीन हो जाते हैं तब जो सारे धर्म मिलकर भी नहीं सिखा सकते हैं. . . .वह उस विश्राम में उभरना शुरू हो जाता है। **क्रियायें जब नहीं हैं, तब उसका दर्शन होता है जो कि क्रिया नहीं है, वरन् सब क्रियाओं का केन्द्र और प्राण है. . . . जो कि कर्ता है।**

सरहपाद ने कहा है :

'जेहि पण पवण न संचरई, रवि ससि णाहि पवेस।

तहि बढ चित्त विसाम करु, सरहें कहिय उवेस।'

'ऐ चित्त! उस मनमें चलकार विश्राम करें जहाँ पवन तक की गति नही होती है, और जहाँ **सूरज** और चाँद का भी प्रवेश नहीं है। **ऐसा एक केन्द्र हमारे भीतर है, जहाँ हमारे अतिरिक्त और किसी का प्रवेश नहीं है। वही हमारी आत्मा है। और जहाँ तक किसी का प्रवेश है, वहाँ तक ही हमारा शरीर है।**

संसार जिस सीमा तक हममें प्रविष्ट हो सकता है, वही हमारी देह है। संसार उसमें प्रवेश कर सकता है, क्योंकि वह संसार का ही अंग है। इन्द्रियाँ इस प्रवेश के द्वारहै। और मन इस भाँति प्रविष्ट संस्कारों का संग्रह है। शरीर, इंद्रियों और मन के अतीत जो है, वह हमारी आत्मा है। उस आत्मा को पाये बिना जीवन व्यर्थ है.... क्योंकि उसे जाने और जीते बिना, हमारी कोई जीत नहीं है, और हमारी कोई उपलब्धि, उपलब्धि नहीं है।

मैं संसार को और निर्वाण को भिन्न नहीं देखता हूँ। उनमें जो भेद है, वह सत्ता-भेद नहीं है। **वह भेद उनमें नहीं, मेरी दृष्टि में है।** संसार और निर्वाण ऐसी दो सत्तायें नहीं हैं। वे 'जो है' उसे देखने की मेरी दो दृष्टियाँ हैं। सत्ता तो एक ही है। पर देखना दो प्रकार का है। ज्ञान की दृष्टि से वही सत्ता कुछ दीखती है और अज्ञान की दृष्टि से कुछ और दीखती है। **अज्ञान में जो संसार है, ज्ञान में वही निर्वाण हो जाता है।** न जानने पर जो जगत् है, जानने पर वही ईश्वर है। इसलिये, प्रश्न वहाँ बाहर नहीं, यहाँ.... भीतर परिवर्तन का है। **मैं बदलता हूँ तो सब बदल जाता है। मैं ही संसार हूँ, मैं ही निर्वाण हूँ।**

सत्य को किसी मूल्य पर नहीं पाया जाता। उससे किसी अन्य से पाया ही नहीं जा सकता। **वह तो आत्म-विकास का फल है।**

सम्राट बिम्बसार ने एक बार महावीर से जाकर कहा था: 'मैं सत्य पाना चाहता हूँ। मेरे पास जो कुछ है, वह मैं सब देने को राजी हूँ पर मैं वह सत्य चाहता हूँ जो कि मनुष्य को दुःख से मुक्त कर देता है।'

महावीर ने देखा कि जगत् को जीतने वाले सम्राट सत्य को भी उसी भाँति जीतना चाहते हैं। सत्य को भी वे खरीदने के विचार में हैं! उनके अहंकार ने ही यह रूप भी धरा है। उन्होंने बिम्बसार को कहा: 'सम्राट' अपने राज्य के पुण्य श्रावक से पहले एक सामायिक का.....एक ध्यान का फल प्राप्त करो ......उससे सत्य और मोक्ष प्राप्ति का तुम्हारा मार्ग प्रशस्त होगा।' बिम्बसार पुण्य श्रावक के पास गये...... उन्होंने कहा: 'श्रावक-श्रेष्ठ, मैं याचना करने आया हूँ। मूल्य जो माँगोगे, दूँगा।'

सम्राट की माँग सुनकर श्रावक ने कहा : 'महाराज, सामायिक तो समता का नाम है। राग द्वेष की विषमता को चित्त से दूर कर स्वयं में ठहरना ही सामायिक है। **यह कोई किसी को कैसे दे सकता है?** आप उसे खरीदना चाहते है... यह तो असम्भव है। उसे तो आपको स्वयं ही पाना होगा... ......उसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है।'

सत्य को खरीदा नहीं जा सकता है। न उसे दानमें......भिक्षामें ही पाया जा सकता है और न उसे आक्रमण करके ही जीता जा सकता है।

उसे पाने का मार्ग आक्रमण नहीं है। आक्रमण अहंकार की वृत्ति है। और अहंकार जहाँ है, वहाँ सत्य नहीं है।

सत्य को पाने के लिये स्वयं को शून्य होना पड़ता है। शून्य के द्वार से उसका आगमन होता है, अहंकार के आक्रमण से नहीं... शून्य की गृहणशीलता (Sensitivity) से वह आता है। **सत्य पर आक्रमण नहीं करना है, उसके लिये स्वयं में द्वार (Opening) देना है।**

हुई-नेंग ने कहा है : 'सत्य को पाने का मार्ग है.... **'अनभ्यास के द्वारा अभ्यास'** (Cultivation by means of non-Cultivation) **अभ्यास**

में भी आक्रमण न हो, इसलिए उसमें अनभ्यास की शर्त रखी है ।वह क्रिया नहीं, अक्रिया है,... अभ्यास नहीं, अनभ्यास है... पाना नहीं, खोना है। पर, यही उसे पाने का मार्ग भी है । मैं जितना अपने को रिक्त और खाली कर लेता हूँ, वह उतना ही मुझे उपलब्ध हो जाता है । वर्षा में पानी कहाँ पहुंच जाता है ? भरे हुये टीलों पर नहीं, खाली गड्ढों में उसका आगमन होता है । सत्य की प्रकृति भी वही है जो जल की है । यदि सत्य को चाहते हैं, तो अपने को बिलकुल खाली और शून्य कर लें । शून्य होते ही पूर्ण उसे भर देता है ।

७ जून १९६४

सत्य आपके भीतर है। सत्य मेरे भीतर है। उसे कहीं खोजने नहीं जाना है। उसे तो अपने में ही खोद लेना है। कुआं खोदते हैं न? वैसे ही आत्मा का कुआं खोदना है। उस खुदाई का उपकरण ध्यान है। ध्यान की कुदाली से स्वभाव पर बैठी परभाव की मिट्टी अलग करनी है। वह निकट ही है, जिसे हम खोज रहे हैं। वह खोजनेवाले में ही छुपा हुआ है।

"मैं आपको देखकर कितना आनंदित हूँ । सत्य के लिये आपकी जिज्ञासा और प्यास कितनी गहरी है ? उसे मैं आपकी आँखों में देख रहा हूँ, उसे मैं आपकी श्वाँस-श्वाँस में अनुभव कर रहा हूँ। और, सत्य के लिये आँदोलित आपके हृदय मेरे हृदय को भी आँदोलित कर रहे हैं । और सत्य के लिये आपकी प्यास मुझे भी छू रही है——— यह कितना आनंदपूर्ण है, और यह सब कितना रसमय और सुँदर है !

सत्य के लिये अभीप्सा से सुंदर और मधुर और प्रिय इस धरा पर कुछ भी नहीं है ।

आनंद के इस अभूतपूर्व क्षण में, मैं क्या आपसे कहूँ ? आपकी प्यास और प्रतीक्षा के इस क्षण में, मैं क्या आपको बोलूँ ?

शब्द कितने ओछे, पार्थिव और अपारदर्शी हैं ? यह ऐसे क्षणों में ही बोध होता है । शब्द कितने व्यर्थ और असमर्थ हैं और कितने शक्तिहीन ? यह ऐसे क्षणों में ही ज्ञात होता है । कुछ कहने जैसा यदि न हो, तो वे अवश्य कह पाते हैं, पर कुछ कहने जैसा हो तो वे एकदम अपर्याप्त पड़ जाते हैं । यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि सत्य का बोध या आनन्द की अनुभूति या सुंदर का साक्षात् इतनी अपार्थिव घटनायें हैं, कि उन्हें कोई भी पार्थिव रूप देना संभव नहीं है । और, पार्थिव रूप देने से ही वे अनुभूतियाँ मृत हो जाती है । फिर हमारे हाथों में वह जीवित नहीं आता है जो कि जाना और जिया गया था । आती है केवल उसकी मृत देह । आत्मा पीछे ही छूट जाती है, और शब्द जिसे संवादित करते हैं, वह सत्य नहीं रह जाता है ।

फिर, मैं क्या कहूँ ?

क्या इस समय यह अच्छा नहीं था कि हम न कुछ बोलते, न कुछ सुनते, और चुप और मौन हो जाते—बिल्कुल निःशब्द हो जाते—और उस

मौन में, उस शून्य (Silence) में जागते और देखते— **केवल** जागते और देखते (Watchful and Seeing), और उसे अनुभव करते 'जो है' तो शायद जो मैं कहना चाहता हूँ, वह बिना कहे ही कह दिया जाता, और मैं कहने से बच जाता और आप सुनने से बच जाते, और सत्य भी कह दिया जाता क्योंकि वह तो प्रत्येक के भीतर ही है। **वह संगीत, जिसकी कि हम खोज में हैं, प्रतिक्षण स्वयं की ही गहराइयों में निनादित हो रहा है ।**

सत्य की प्यास के क्षण यदि मौन क्षण भी हों, तो वे प्रार्थना ((State of prayer) की स्थिति में परिणत हो जाते हैं ।

प्रभु-प्यास और निःशब्द-प्रतीक्षा ही प्रार्थना है ।

मनुष्य जिसकी खोज में है, वह उसके भीतर ही है । आप जिसे मुझसे पूछने और जानने आये हैं, वह सदा आपके साथ ही है । **उसे न कभी आपने खोया है, न कभी खो सकते हैं, क्योंकि वही तो आपका अस्तित्व और होना (Being) है । वह अकेली ही ऐसी संपदा है, जो कि खोई नहीं जा सकती है, क्योंकि वह आप स्वयं ही हो ।** पर, हम सब उसे ही खोज रहे हैं । जो खो नहीं सकता है, उसे ही खोज रहे हैं ! कैसा मजा है, कैसी लीला है !

एक अद्भूत प्रवचन मुझे याद आ रहा है । कब दिया, किसने दिया, यह कुछ भी मुझे याद नहीं । एक संध्या किसी मंदिर में बहुत भीड़ थी । बहुत से भिक्षु इकट्ठा थे । बडी प्रतीक्षा के बाद बोलनेवाले का आना हुआ । वह बोलने उठा । और, तभी किसीने खड़े होकर पूछा : 'सत्य क्या है ?' एक अत्यन्त जीवित और प्रतीक्षातुर सन्नाटा छा गया । जिससे पूछा गया था, वह जानता था, इसलिये उसके एक एक शब्द का मूल्य था । पर, जानते हैं, उसने क्या कहा ? उसने कहा : उसने बहुत जोर से कहा : **'ओ, भिक्षुओ !—**-(O, monks) !' और, उस अपूर्व शाँति में उसके वे दो शब्द गूँजे और सभी की आँखें उसकी और उठीं, और सभीने उसकी ओर देखा । सभी मौन थे, निस्तब्ध थे और सजग (Watchful) थे । फिर, बोलनेवाला

और कुछ नहीं बोला । उसकी बात पूरी हो गई थी । उसे जो कहना था, उसने कह दिया था । आप समझे कि उसने क्या कहा ? कुछ भी तो नहीं कहा न ? पर मेरे देख उसने सब कह दिया । जो कहने जैसा है, उसके कहने में सब आगया है । मै भी वही कहना चाहता हूँ । वही कहूँगा——वही केवल कहने जैसा है । जो शब्द नहीं कह पाते हैं, वही केवल कहने जैसा है ।

उसने क्या कहा ? उसने कहा था : सत्य को और कहीं मत खोजो, और किसी से मत पूछो, वह है तो तुम्हारे भीतर है, अन्यथा कहीं भी नहीं है । इसलिये, यद्यपि सत्य के सम्बन्ध में उससे पूछा गया था, पर सत्यके संबंध में तो उसने कुछ भी नहीं कहा, बल्कि पूछनेवालों को ही उसने पुकारा था । उसने वैसे ही उन्हें पुकारा था, जैसे कोई किसी को निद्रा से पुकारता है । सत्य की खोज के लिये यही उत्तर है । नींद से जागना ही उसे पाना है, अन्यथा कोई मार्ग नही है ।

हम निद्रा में हैं, इसलिये जो स्वयं के पास है, वह दिखाई नहीं पड़ता–जो हम स्वयं हैं, उसका दर्शन नहीं होता है । और, हम स्वप्न में दूर-दूर उसकी ही खोज करते हैं——–जो खोजनेवाले में ही है, उसकी ही खोज करते हैं ––– जैसे कस्तूरीमृग कस्तूरी की खोज में भटकता है । ऐसी ही हमारी भटकन और तलाश है । पर कितना ही हम खोजें जो स्वयं में है, वह किसी भी खोज से नहीं मिलेगा, क्योंकि खोज से वह मिल सकता है, जो बाहर है । स्वयं को उसी भाँति की खोज से नहीं पाया जा सकता है ।

वह खोजने से नहीं, जागने से मिलता है । इसलिये, उसने पुकारा था । इसलिये, महावीर पुकारते हैं, बुद्ध पुकारते हैं, कृष्ण पुकारते हैं, क्राइस्ट पुकारते हैं । **वह बोलना नहीं, पुकारना है ।** वह शिक्षा नहीं, संबोधन है ।

मै भी बोलना नहीं, पुकारना चाहता हूँ ।

क्या आप सुनेंगे ? क्या आप आज्ञा देंगे कि मैं आपकी नींद को तोड़ूं, और आपके स्वप्नों को खंडित करूँ ? यह भी हो सकता है कि जो स्वप्न आप देख रहें हों, वे बहुत सुखद हों, पर जो स्वप्न सुखद होते हैं वे ही घातक होते

हैं, क्योंकि वे जागने नहीं देते हैं, और नींद की मादकता को और घना करते हैं।

मैं स्वयं जागकर जो आनन्द अनुभव कर रहा हूँ, उसमें आपको भी साझीदार बनाना चाहता हूँ। इसलिये, तय किया है कि आपको पुकारूँगा। आपसे बोलूँगा ही नहीं, आपको बुलाऊंगा भी। यह पुकार आपकी तन्द्रा तोड़ दे और आपके स्वप्नों के धुयें को तितरबितर करदे, तो मुझे क्षमा करना। मैं असमर्थ हूँ:**स्वप्न तोड़े बिना सत्य के संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है**। एक निद्रा हमें घेरे हुये है। इस निद्रा के बने रहते हमारा कुछ भी करना सार्थक नहीं है। उसके बने रहते हम जो भी करें, वह सब करना, वह सब जानना स्वप्न में है। सर्वप्रथम बात निद्रा से जागना है। शेष सब उसके बाद है। उसके पूर्व कुछ भी नहीं है। इस निद्रा में उपलब्ध किये विचार और साधे गये आचार, किन्ही का भी कोई मूल्य मत मानना। वह सब समझना कि जैसे स्वप्न में ही हो रहा है।

मैं स्वयं ही, अभी जब स्वयं को अज्ञात हूँ, तो मुझसे अभी कुछ भी सम्यक् होना संभव नहीं है। मेरा ज्ञान, मेरा आचरण, अभी सभी मिथ्या होने को आबद्ध है। मेरी श्रद्धा, मेरी आस्था, मेरे विश्वास, सभी अभी अंधे होंगे। मैं अभी किसी भी रास्तेपर चलूं, वह मुझे सत्य तक नहीं लेजा सकेगा। अभी तो चलने का सवाल नहीं ही है। निद्रा में क्या कोई चलता है? वहाँ तो केवल चलने का स्वप्न ही होता है!

आत्म-अज्ञान ही वह निद्रा है जिसके संबंध में मैं आपसे कह रहा हूँ। उससे जागना आवश्यक है। उससे जागने के लिये वह सब समझना जरूरी है, जो कि आपको नहीं जागने दे रहा है। **और, धर्म को जानने के पहले उस से परिचित होना आवश्यक है, जो कि धर्म नहीं है, और जिसे आप धर्म समझकर पकड़े हुए है, और जो जागने की विध की जगह, कहीं नींद लाने की ही दवा ज्यादा है!**

मार्क्स ने धर्म को अफीम का नशा कहा है। धर्म तो नशा नहीं है, पर साधारणतः जिसे धर्म समझा जाता है, वह नशा ही है। मार्क्स भूल में था,

क्योंकि उसने धर्म को नशा समझ लियाथा, और आप भी भूल में हैं, क्योंकि आपने नशे को ही धर्म समझ लिया है ।

यह समझना जरूरी है कि क्या नशा है, और क्या धर्म है । सबसे पहले उसका विचार करें जो कि धर्म नहीं है, और फिर उसका अनुभव करेंगे जो कि धर्म है । अधर्म का विचार ही काफी है । वह उतने से ही समाप्त हो जाता है । पर धर्म के लिये विचार पर्याप्त नहीं है । वह साधना से आता है ।

मैं आपको एक बात कहूँ कि अगर धार्मिक जीवन में, सच ही कहीं पहुंचना हो, तो कोई भी मान्यता लेकर नहीं चलना चाहिये । अगर सत्य को जानना हो, तो कोई भी पूर्व-धारणा नहीं बनानी चाहिये । **सत्य के पास हमें बिल्कुल शांत और शून्य और बिना किसी धारणा (Conception) के पहुँचना चाहिये ।** पूर्व धारणायें और पक्ष दृष्टि को विकृत और धूमिल कर देते हैं । फिर, जो हम जानते हैं, वह सत्य नहीं, अपने ही विचार का प्रक्षेपण (Projection) होता है । उस भाँति सत्य हम पर **अवतरित नहीं होता, विपरीत हम ही उस पर आरोपित हो जाते हैं ।** सत्य के और हमारे बीच में कोई पक्ष कोई सिद्धांत न हो, तो ही हम जो जानेंगे, वह सत्य होगा, अन्यथा हम अपने चित्त-घेरे के बाहर नहीं हो पाते हैं, और वही जानते रहते हैं, जो कि जानना चाहते हैं । यह ज्ञान (Knowledge) नहीं है, कल्पना (Imagination) है ।

मनुष्य में कल्पना की असीम शक्ति है । सत्य और उसके बीच यही दीवार है । सत्य, आत्मा, परमात्मा—इनके बाबत अगर पूर्व से कोई निर्णय लेलें, तो हमारा चित्त उस निर्णय को परिकल्पित कर लेगा, और हम जानेंगे कि हमने कुछ जाना है, जबकि हमने कुछ भी नहीं जाना है, और हम केवल कल्पना मात्र में विचरण किये हैं । यह सत्य का नहीं, स्वप्न का दर्शन है । यह तो आप जानते ही हैं कि मन स्वप्न देखने में अपूर्वरूप से समर्थ है । जो नहीं है, उसे भी कामना दिखा देती है । वह मृगमरीचकायें पैदा कर देती है, और जो है, वह छिप जाता है, और जो नहीं है, वह प्रत्यक्ष बन जाता है । पर आप कहेंगे कि स्वप्न तो निद्रा में होते हैं । निश्चय ही स्वप्न निद्रा में होते हैं ।

पर निद्रा साधी जा सकती है, और एक अर्थ में जागते हुये भी आप सोये हुये, हो सकते हैं । दिवास्वप्न भी तो हम देखते हैं । फिर, यदि कोई निरंतर सत्य की या परमात्मा की किसी धारणा को करे और सोते जागते उसकी कल्पना-स्मृति से भरा हुआ हो, तो निश्चय ही प्रक्षेप हो जाता है, और साक्षात भी होता है, जो कि दिवास्वप्न का ही प्रगाढ़ रूप है । आँखों के सामने तो कुछ भी नहीं होता है, पर जिसे आँखों के पीछे बहुत दिन पोषित किया है, वही सामने आ जाता है । **यही प्रक्षेपण है । स्वप्न इसी भाँति दीखते हैं, तथाकथित पूर्व-धारणा आधारित सत्य के साक्षात भी ऐसे ही संभव होते हैं ।**

क्राइस्ट का भक्त क्राइस्ट को देख लेता है, कृष्ण का भक्त कृष्ण को देख लेता है, और किसी का भक्त और किसी को देख लेता है । यह सत्य का या परमात्मा का अनुभव नहीं है । यह अपनी ही कल्पनाओं का विस्तार है, क्योंकि सत्य परमात्मा दो नहीं हो सकते हैं । **सत्य एक है, उसकी अनुभूति भी एक है, और जो इस एक को जानना चाहता है, उसे अनेक धारणाओं और कल्पनाओं को छोड़ना होता है ।** मैं किसी एक धारणा के पक्ष में अन्य धारणाओं को छोड़ने को नहीं कह रहा हूँ । मैं तो धारणा मात्र को छोड़ने को कह रहा हूँ । ये धारणायें ही धर्म के नाम पर प्रचलित और प्रतिष्ठित संप्रदायों के प्राण हैं, और इनके कारण ही सम्प्रदाय तो बहुत हैं, पर धर्म का होना असंभव हो गया है । सत्य को जानना है, तो सत्य के संबंध में सब सिद्धांतो को छोडना आवश्यक है, क्योंकि उस निष्पक्ष, पूर्वाग्रह (Prejudice) मुक्त और अतएव, निर्दोष स्थिति में ही जो है, उसे जाना जा सकता है । जहाँ पूर्व धारणा नहीं है, जहाँ पूर्व कल्पना नहीं है, जहाँ पूर्व अपेक्षा (Expectation) नहीं है, वहाँ स्वप्न निर्मित नहीं होते, वहाँ सत्य का दर्शन होता है ।

सत्य दर्शन की साधना वस्तुतः, सत्य दर्शन की साधना न होकर, केवल स्वप्नमुक्ति की साधना है। सत्य को क्या जानना है, बस स्वप्न से ही मुक्त होना है। वह मुक्ति ही सत्य दर्शन है। स्वप्नोंमें खोयें हैं, इसलिये जो हैं, वह निरंतर उपस्थित होकर भी, अनुपस्थित जैसा है । सत्य तो है, क्योंकि जो है,

उसी का नाम तो सत्य है । उसे कहीं से लेना नहीं है । वह तो नित्य उपस्थित ही है, पर स्वप्नों में खोये होने के कारण हम उसके प्रति उपस्थित नहीं हैं । **सत्य को नहीं, स्वयं को लाना है । यह लाना परमात्मा के प्रति और नये स्वप्न देखने से नहीं होगा । यह होगा, सब स्वप्न छोड़ देने से, जागने से । इसलिये, मैंने कहा कि सत्य की कोई कल्पना नहीं करनी है, वरन् जानना है कि चित्त जब किसी भी कल्पना में नहीं होता है, तब वह सत्य में होता है ।**

संसार सविकल्प चित्त का साक्षात है, सत्य र्विविकल्प चित्त का साक्षात् है । सब धारणायें, सब मान्यतायें (Beliefs) विकल्प हैं, इसलिये वे सत्य का द्वार नहीं है । वे बाधायें हैं, और कहीं पहुँचाती नहीं, विपरीत अटकाती हैं । उनमें होकर नहीं, उनसे उठकर सत्य का मार्ग जाता है । इसलिये, कोई विचार, कोई रूप, कोई आकार, कोई आस्था सत्य की मत बनाइये: जो आस्था बनाइयेगा, वह अनुभव हो जायेगी । पर वह अनुभव वास्तविक नहीं, मानसिक ही होता है । ऐसे अनुभव आत्मिक नहीं है । सत्य को जानने को अज्ञान में बनाई गई सब मान्यतायें गलत हैं । यह मत विचारिये कि सत्य क्या है, और कैसा है ? ऐसा सब चिंतन अंधा है । वह वैसा ही है, जैसे कोई चक्षुहीन प्रकाश की कोई कल्पना करे । वह बेचारा क्या कल्पना करेगा ? जब आँख ही नहीं है, तो प्रकाश के संबंध में कुछ भी सोच विचार संभव नहीं है । वह जो भी सोचेगा, आधार से ही गलत होगा । प्रकाश तो दूर, अंधेरे तक की कल्पना वह सही नहीं कर सकता है, क्योंकि उसे भी देखने को आँखें जो चाहिये । फिर, चक्षुहीन क्या करे ? **मैं कहूँगा: प्रकाश का विचार न करे, आँख का उपचार करे । विचार नहीं, उपचार ही सहायक और सार्थक हो सकता है ।** पर, मैं क्या देखता हूँ कि उसे उपदेश दिये जा रहे हैं, प्रकाश का तत्वज्ञान समझाया जा रहा है । पर उपचार की किसी को कोई चिन्ता नहीं है । और, यह देखकर तो और भी आश्चर्य होता है कि जो उपदेश में संलग्न हैं, प्रकाश के दर्शन उन्हें भी नहीं हुये हैं, और उन्होंने भी प्रकाश के संबंध में ही जाना है, प्रकाश को नहीं जाना है । यह मैं इसलिये कहता हूँ कि यदि उन्होंने प्रकाश को जाना होता तो वे अवश्य ही

उपदेश की व्यर्थता को समझ गये होते, और उनकी चिन्ता और सहृदयता उपचार पर केंद्रित होती। **आँख ठीक हो जाये तो प्रकाश अपने आप अनुभव हो जाता है। वह तो निरंतर मौजूद है। केवल आँख की ही जरूरत है।** स्मरण रहे कि यदि आँख नहीं है, तो प्रकाश होकर भी नहीं हो जाता है।

यह कहना चाहूँगा कि आँख है, तो प्रकाश है। आँख और प्रकाश, ये दो शब्द बड़ी भिन्न दिशाओं में ले जाने में समर्थ हैं। प्रकाश की चिन्तना तत्वमीमांसा (Philosophy) में लेजाती है। वह दिशा, मात्र चिन्तन की है **उसकी निष्पत्ति में अनुभूति नहीं आती है। वह कोरा विचार है।** उसमें चलना तो बहुत है, पर पहुँचना कहीं भी नहीं होता है। निष्कर्ष तो बहुत आते हैं पर निष्कर्ष नहीं आता है —ऐसा निष्कर्ष नहीं आता है जो कि समाधान हो। यह स्वाभाविक ही है। पानी का पूर्णतम विचार भी अल्पतम प्यास को कैसे मिटा सकता है? **प्यास की परितृप्ति का रास्ता कुछ दूसरा है। वह प्रकाश के विचार का नहीं, आँख की साधना का है। मैंने कहा: प्रकाश की चिन्तना तत्वमीमांसा** (Philosophy) है, और अब मैं कहना चाहूँगा कि **आँख की साधना धर्म** (Religion) है। विचार से बौद्धिक निष्पत्तियाँ हाथ आती हैं, साधना से आत्मिक अनुभूतियां उपलब्ध होती हैं। एक पानी का विचार है, एक प्यास की परितृप्ति है। एक समस्या ही है, एक समाधान है।

मैं प्रत्येक से यही पूछता हूँ। प्रकाश को जानना चाहते हैं, या कि प्रकाश के संबंध में जानना चाहते हैं, सत्य को जानना है, या कि सत्य के संबंध में जानना है, पानी के संबंध में जानना है, या कि प्यास को मिटाना है? और आपके उत्तर पर निर्भर करेगा कि आप ज्ञान (Knowledge) के पिपासु हैं या कि मात्र जानकारी (Information) के। यह स्मरण रहे कि ये दोनों दिशायें बिल्कुल विपरीत हैं; एक अहंकार विसर्जन पर लेजाती है, और दूसरी अहंकार संवर्धन पर। एक से आप सरल होते है, और दूसरी से और जटिल हो जाते हैं। **ज्ञान 'मैं' को मिटा देता है, जानकारी उसे और भरदेती है।** सब

संग्रह, सब परिग्रह मैं को भरते हैं, इसलिये अहं को उनकी आकांक्षा और लालसा होती है । विचार भी सूक्ष्म परिग्रह है । वह भी अहंकार का खाद्य है । पंडितों में जो दंभ परिलक्षित होता है, वह अनायास और आकस्मिक नहीं है । वह विचार का सहज परिणाम है । **विचार संग्रहीत होते हैं, वे बाहर से आते हैं, वे अंतस से जाग्रत नहीं होते, इसलिये वे आवरण ही हैं, आत्मा नहीं हैं ।** अँधे व्यक्ति को प्रकाश की जानकारी बाहर से दी जा सकती है, **पर दृष्टि की संवेदना उसमें भीतर से जगानी होती है । एक संग्रह है, दूसरी शक्ति है ।** जानकारी (Information) और ज्ञान (Knowledge) में संग्रह और शक्ति का भेद है । **संग्रह बाहर से आता, शक्ति भीतर से आती है ।** संग्रह शक्ति का भ्रम देता है । वह भ्रम वहुत प्रवल है । उस भ्रम से ही अहंकार परिपुष्ट होता है । अहंकार शक्ति नहीं है, शक्ति का भ्रम है । वह अशक्ति ही है, क्योंकि सत्य की एक किरणमात्र उसे बाष्पीभूत कर देती है । इसलिये ही, वास्तविक शक्ति सदा ही निरहंकार देखी जाती है ।

मैं समझता हूँ कि आप पांडित्य और प्रज्ञा के भेद को समझे होंगे ? वह समझना वहुत जरूरी है । **अज्ञान से भी बडी बाधा सत्य-साधक के मार्ग में मिथ्याज्ञान की है ।** पाँडित्य मिथ्याज्ञान है । मिथ्याज्ञान का अर्थ है कि न जानते हुये भी जानना कि मैं जान रहा हूँ । दूसरों के विचार संग्रह से यह भ्राँति सहज ही पैदा हो जाती है । शास्त्र-ज्ञान, शब्दज्ञान, इस भ्राँति को पैदा कर देता है । शब्द जानते-जानते लगता है कि सत्य जान लिया । शब्द स्मृति के हिस्से हो जाते हैं, और प्रत्येक प्रश्न का उत्तर ज्ञात मालुम होने लगता है । विवेक उधार विचारों से दव जाता है, और इसके पूर्व कि कोई समाधान अंतस् में खोजा जा सके, विचारों का आवरण उत्तर देदेता है । इस भाँति हम समस्या को जीने से वच जाते हैं, और परिणामतः समाधान से वंचित हो जाते है । **समस्या मेरी है, तो किसी दूसरे का उधार माँगा समाधान काम नहीं देसकता है । समस्या मेरी है, तो समाधान भी मेरा ही चाहना होगा । जीवन उधार नहीं माँगा**

जा सकता है, न ही जीवन का समाधान माँगा जा सकता है। समस्या के बाहर से समाधान नहीं आता है। वह समस्या के भीतर से ही विकसित होता है। समस्या अंतस् मे है, तो सत्य बाहर नहीं हो सकता है। वह, इसलिये, सीखा नहीं जा सकता है। **उसे तो उघाड़ना होगा, आविष्कृत् करना होगा। वह शिक्षासे नहीं, साधना से आता है। शास्त्रवित् होने, और आत्मवित् होने में यही मौलिक अंतर है।** संसार के संबंध में शास्त्रवित् होना पर्याप्त है। स्वयं के संबंध में वह प्रारम्भ भी नहीं है।

संसार की, पदार्थ की, 'पर' की केवल जानकारी ही होसकती है। जो बाहर है, उसका ज्ञान नहीं हो सकता, जो भी हमसे बाहर है, उसे हम बाहर से ही जान सकते हैं। हम उसके कितने ही निकट हों, तब भी दूर ही होंगे। उससे दूरी कितनी ही कम हो, पर समाप्त नहीं होगी। तब हम जो 'स्व' नहीं है, उससे परिचित ही हो सकते हैं, उसका ज्ञान हमें नहीं हो सकता है। हम उसके संबंध में जान सकते हैं, उसे ही नहीं जान सकते हैं। ज्ञान के लिये दूरी का न होना जरूरी है, तभी अंतःसत्ता में प्रवेश होता है। पर, जिससे दूरी है, उससे दूरी मिट नहीं सकती है। दूरी जिससे नहीं है, उससे ही मिट सकती हैं। दूरी भ्रम हो तो मिट सकती है; वास्तविक हो, तो मिटना असंभव **है। एक ही सत्ता है, जिससे मेरी दूर नहीं है, जिससे मेरी दूरी होनी असंभव भी है। वह सत्ता मैं स्वयं हूँ। इस सत्ता का ही केवल ज्ञान हो सकता है।** इस सत्ता से जो दूरी है, वह निश्चित ही भ्रम है, क्योंकि स्वयं से ही दूरी हो कैसे सकती है? मैं ही मेरे लिये एकमात्र केंद्र हूँ, जिसमें आत्यंतिक रूप से मेरा आंतरिक प्रवेश है, आंतरिक निवास और प्रतिष्ठा है। इस बिंदु को ही केवल जाना जा सकता है। मात्र इसका ही ज्ञान हो सकता है। यह भी आपको स्मरण दिलादूँ कि जिस भाँति संसार का ज्ञान नहीं हो सकता है, केवल परिचय (acquaintance) और जानकारी ही हो सकती है, और ज्ञान केवल स्वयं का ही हो सकता है, **उसी भाँति आत्मा की कोई जानकारी नहीं हो सकती है, उसका केवल ज्ञान (Knowledge) ही हो सकता है।** यही कारण है कि संसार के, पदार्थ के, पर के संबंध में शास्त्रवित् होना ही पर्याप्त है, स्वयं के

संबंध में नहीं है। विज्ञान (Science) शास्त्र हैं, धर्म शास्त्र नहीं है, क्योंकि विज्ञान पदार्थ की जानकारी है, धर्म स्वयं का ज्ञान है। **विज्ञान शास्त्र है, धर्म साधना है।** मैं उपदेश नहीं देता हूँ। वह दिशा ही निरर्थक है। उपदेश नहीं, उपचार का प्रश्न है। सत्य के संबंध में सिद्धान्त नहीं देने हैं। उनका कोई भी मूल्य नहीं है। मूल्य उस विधि का है, जिससे सत्य का दर्शन होता है। विधि से उपाचार होता और आंख खुलती है। फिर, प्रकाश को सोचना नहीं पड़ता है, उसका दर्शन होता है। आँख न हो तो सोचना पड़ता है आँख हो तो सोचने की बात ही नहीं है। विचारणा (Thinking) अंधेपन में, आँख की जगह काम करती है। आँख के आते ही वह व्यर्थ हो जाती है। **इससे मेरे देखे : विचार ज्ञान का नहीं, अज्ञान का लक्षण है। ज्ञान निर्विचार होता है। वह सोचना नहीं, अंतर्दृष्टि है।** सत्य के संबंध मे कोई भी सिद्धान्त यह अंतर्दृष्टि (Insight) नहीं दे सकता है। वह बौद्धिक परिग्रह होकर ही रह जाता है। वह स्मृति का अंश बन जाता है, ज्ञान नहीं बन सकता। सिद्धान्त सिखाये जा सकते हैं पर उनसे किसी का व्यक्तित्व परिवर्तित नहीं होता। वस्त्रों की भाँति वे ऊपर से भेद ला देते हैं, पर भीतर जो था वह वैसा का वैसा ही बना रहता है। अंतस् उनसे अछूता ही रह जाता है, केवल आवरण नये रूप-रंग ले लेता है। इस भाँति व्यक्ति प्रज्ञा में तो जाग्रत नहीं होता, उल्टे पाखन्ड (Hypocracy) में पतित ही जाता है। **उनके 'होने' और 'जानने' में एक खाई बन जाती है।** वह होता कुछ है, जानता कुछ है। उसके दो व्यक्तित्व हो जाते हैं। अंतस् और आवरण में विरोध और द्वैत आ जाता है। इसकी स्वाभाविक परिणति ही पाखन्ड है। ऐसा व्यक्ति, जो उसके अंतस् में नहीं है उसे दिखाने में लग जाता है, और जो है, उसे छिपाने में लग जाता है। यह अभिनय धार्मिकता नहीं है। और, इससे दूसरों का नहीं, स्वय का ही जीवन नष्ट होता है। यह आत्मवंचना है। पर इसे ही धार्मिकता समझा और समझाया जाता है। सिद्धान्तों की कोरी बौद्धिक शिक्षा केवल इतना ही कर सकती है। उससे आवरण-परवर्तन हो सकता है। आत्म क्रान्ति के लिये कुछ और दिशा चाहिये। वह दिशा सिद्धान्त की नहीं, साधना की

है । वह दिशा उपदेश की नहीं, उपचार की है । वह दिशा सत्य के संबंध में विचारणा की नहीं, सत्य के प्रति आँख खोलने की है ।

धर्म आँख खालने की विधि है । आँख खुल जावे तो 'जो है' उसका दर्शन सहज है । पर सिद्धान्तों से आँखें नहीं खुलती हैं, विपरीत जो उनकी मूर्च्छा में पड़े रहते हैं, वे भूल ही जाते हैं कि उनकी स्वयं की आँखें अभी बन्द हैं, और वे जिन सत्यों की चर्चा कर रहे हैं, वे उनकी स्वयं की नहीं, किन्हीं अन्य की आँखों से देखे गये हैं । **पर, दूसरे की आँख से देखा गया सत्य वैसा ही है जैसे दूसरे के द्वारा किया गया भोजन । उसकी सार्थकता किसी दूसरे के लिये कुछ भी नहीं है । सत्य की अनुभूति अत्यंत वयक्तिक और निजी है और उसे कोई भी किसी दूसरे को हस्तांतरित नहीं कर सकता है ।** वह ली दी नहीं जा सकती है । उसे तो स्वयं ही पाना होता है । उसकी चोरी का या उसे दान में पाने का कोई मार्ग नहीं है । **वह संपत्ति नहीं है, स्वत्व है ।**

सत्य संपत्ति नहीं, स्वत्व है, इसलिये अहस्तांतरणीय (Untransferable) है । आज तक उसे किसी नें भी किसी को नहीं दिया है और न भविष्य में ही कोई कभी उसे किसी को दे सकेगा, क्योंकि जिस दिन भी वह दिया जायगा, उसी दिन सत्य नहीं वस्तु हो जायगा । वस्तु ली दी जा सकती है । सत्य को स्वयं में और स्वयंसे ही पाना होता है । वह वस्तुत: 'पाना' भी नहीं है, वह 'होना' है ? वह हमारी स्व-सत्ता है । उसे सीखने का प्रश्न कहाँ है ? उसे तो उघाड़ना है । सीखने (Learning) से तो और पर्तें बनती हैं, और स्व आच्छादित होता है । बाहर से जो भी, सीख (Teaching) मिलती है, वह आवृत्त ही करती है । बाहर से जो भी आयेगा वह आवृत ही करेगा । बाहर से आवरण ही हो सकता है । विचारों के वस्त्र स्वयं को ढाँकते जाते हैं । इन सब वस्त्रों को छोडकर नग्न होना होता है । स्वयं को जानने को सब वस्त्र छोड़ देने होते हैं । सीखना नहीं, अनसीखना (Un-learning) करना होता है ! **बाहर से आये हुये अतिथि जब नहीं होते हैं, तब वह जाना जाता है, जो कि अतिथि (Guest) नहीं, आतियेय (Host) है ।**

सत्य तो नहीं सिखाया जा सकता पर सत्य को जानने की विधि सिखाई जा सकती है । आज इस विधि की कोई चर्चा नहीं है । सत्य की चर्चा तो बहुत है । पर सत्य-दर्शन की विधि की चर्चा नहीं है । **इससे बडी भूल नहीं हो सकती है ।** यह तो प्राण को छोड देह को पकड लेने जैसा ही है । इसके परिणाम स्वरूप ही धर्म तो बहुत हैं, धर्म नहीं है । आज जो संप्रदाय धर्म के नाम पर चलते दीख रहे हैं, वे धर्म नहीं हैं । धर्म तो एक ही हो सकता है । उसमें विशेषण नहीं लग सकता । वह तो विशेषणशून्य है । **धर्म यानी धर्म वह 'यह' धर्म और 'वह' धर्म नहीं हो सकता है। जहाँ 'यह'और 'वह' है, वहाँ धर्म नहीं है ।**

सत्य के संबंध में सिद्धान्तों के कारण इन संप्रदायों का जन्म हुआ है । सिद्धान्तों पर जब तक जोर और आग्रह है, तब तक संप्रदाय भी बने ही रहेंगे। सिद्धान्त शब्द-आग्रह है । इन्हीं शब्दों के केन्द्र पर संप्रदाय बनते हैं । इन शब्दों पर संघर्ष चलता है और वैमनस्य और विद्वेष पलता है । ये शब्द मनुष्य को मनुष्य से तोड़ देते हैं । और कैसा आश्चर्य है कि विश्वास किया जाता है कि जो मनुष्य को मनुष्य से तोड़ रहा है, वह मनुष्य को परमात्मा से जोड़ सकेगा ? **जो मनुष्य को मनुष्य से तोड़ता है, वह न तो उसे स्वयं से जोड़ सकता है और न सत्य से जोड़ सकता है ।** धर्म का सिद्धान्तों में यह विघटन सिद्धान्तों के कारण हुआ है, शब्दों के कारण हुआ है, विश्वासों और मान्यताओं के कारण हुआ है । यह विघटन ज्ञान पर नहीं, अज्ञान पर आधारित है । सत्य **का कोई संप्रदाय नहीं है;** सब संप्रदाय सिद्धान्तों के हैं । सत्य-बोध संप्रदाय मुक्ति बन जाता है । उसी क्षण धर्म में प्रवेश होता है.....उस धर्म में जो न हिन्दू है, न जैन है, न ईसाई है, जो मात्र धर्म है, जो मात्र प्रकाश है, जो मात्र चैतन्य है ।

धर्म स्वरुप साक्षात है । संप्रदाय धार्मिक नहीं हैं । धर्म का संगठना से क्या वास्ता? सब संगठन (Organisation) राजनैतिक और सामाजिक है। संगठन मात्र सांसरिक हैं । वे एक दूसरे के भय पर खडे होते हैं और जहां भय है वहाँ घृणा है । उसका जन्म सत्य से नहीं, सुरक्षा के लिये होता है । राष्ट्र हों,

समाज हों, या संप्रदाय हों, वे सब भय से उत्पन्न होते हैं। और जो भय से उत्पन्न होता है, उसकी सार्थकता यही है कि वह दूसरों में भय उत्पन्न करे। सारे संप्रदाय यही करते है। वे किसी को धार्मिक नहीं बनाना चाहते हैं। वे सब अपनी संख्या बढ़ाना चाहते हैं, क्योंकि संख्या शक्ति है और सुरक्षा का आश्वासन है। वह आत्मरक्षा भी है और आक्रमण की क्षमता भी है। संप्रदाय यही करते रहे हैं, कर रहे हैं और करते रहेंगे। उन्होंने मनुष्य को धर्म से जोड़ा नहीं, तोड़ा है। **धर्म एक सामाजिक घटना नहीं, एक अत्यंत वैयक्तिक क्रान्ति है। उसका दूसरों से कोई संबंध नहीं, स्वयं से ही संबंध है। व्यक्ति दूसरों के साथ क्या करता है, इससे नहीं, उसका संबंध इस बात से है कि व्यक्ति स्वयं अपने साथ क्या करता है?** मैं अपने निपट अकेलेपन में अपने साथ क्या करता हूँ... इस बात का संबंध धर्म से है।

मैं अपने निपट अकेलेपन में क्या हूँ? यह जानना है। मैं क्या हूँ? यह जानना है। मेरी सत्ता का बोध ही मुझे धर्म में ले जायेगा। और कोई मार्ग धर्म में नहीं ले जाता है। कोई मंदिर, कोई मसजिद, कोई शिवालय, कोई चर्च मुझे वहाँ नहीं पहुँचाते, जहाँ मैं हूँ। वहाँ जाने के लिये बाहर की कोई सीढ़ियाँ पार नहीं करनी है। सब शिवालय बाहर है, सब मंदिर संसार के हिस्से हैं। उनके द्वार स्व तक पहुँचाने में समर्थ नहीं है। बाहर की गई कोई भी यात्रा, तीर्थयात्रा नहीं है। वह तीर्थ तो भीतर है, जहाँ धर्म का अनुभव होता है और उस रहस्य का, उस आनन्द का, उस सौन्दर्य का, उस जीवन का उद्घाटन होता है, जिसे पाय बिना सब दुख है, सब व्यर्थ है और सब अर्थहीन (Meaningless) है।

मैं को जानने को बाहर नहीं, भीतर चलना है। पर, मनुष्य की सारी इंद्रियाँ उसे बाहर ले जाती हैं। वे सब बहिर्गामी हैं। उसकी आँखें बाहर देखती हैं, उसके हाथ बाहर फैलते हैं, उसके चरण बाहर चलते हैं। उसका मन भी बाहर को ही प्रतिबिम्बित और प्रतिध्वनित करता है। और यही कारण है कि उसने भगवान की मूर्तियाँ बना लीं है और सत्य के मंदिर खड़ेकर लिये है, ताकि उसकी आँखें भगवान के दर्शन कर सकें और उसके चरण सत्य की यात्रा कर सकें! यह आत्म-वंचना स्वयं हमने करली है। और यह विष स्वयं हमने

अपने हाथों पी लिया है और इस वंचना और इस विष की मूर्च्छा में हम अपना सारा जीवन व्यय और व्यतीत कर देते हैं। **इंद्रियों की सुविधा के लिये हमने धर्म की, बाहर ही कल्पना और सृष्टि करली है, जबकि धर्म को जानने को हमें इंद्रियों के पीछे जाना जरूरी है। जो ज्ञान, जो चेतना इंद्रियों के माध्यम से जगत् को जानती है, उसे ही स्वयं जानना हो तो इंद्रियों माध्यम नहीं हो सकती।** जो जान रहा है, जो ज्ञान है, वह स्वयं ही ज्ञेय की भाँति नही जाना जा सकता। जो दृष्टा है, जो दर्शन की शक्ति है, उसका स्वयं दृश्य की भाँति दर्शन नहीं हो सकता है। विषयी (Subject) कभी भी विषय (Object) में परिणत और पतित नहीं हो सकता। यह सरल सी, सीधी सी बात ध्यान में न आने से सारी भूल हो गई है। परमात्मा की खोज होती है, जैसे वह कोई बाह्य वस्तु है। उसे पाने के लिये पर्वतों और वनों की यात्रायें होती है, जैसे वह कोई बाह्य व्यक्ति है। यह सब कैसा पागलपन है? उसे खोजना नहीं है, जो खोज रहा है, उसे ही जानने से वह मिल जाता है। वह वही है। **खोज में नहीं, खोजने वाले में ही वह छिपा है।**

सत्य आपके भीतर है। सत्य मेरे भीतर है। **वह कल आपके भीतर नहीं होगा, वह इसी क्षण अभी और यहीं आपके भीतर है।** मैं हूँ यह होना ही मेरा सत्य है। और जो भी मैं देख रहा हूँ, वह हो सकता है कि सत्य न हो, हो सकता है कि वह सब स्वप्न ही हो, क्योंकि मैं स्वप्न भी देखता हूँ और देखते समय वे सब सत्य ही ज्ञात होते हैं। यह सब दिखाई पड़ रहा संसार भी स्वप्न ही हो सकता है,। आप मेरे लिये स्वप्न हो सकते हैं। हो सकता है कि मैं स्वप्न में हूँ और आप उपस्थित नहीं है। **लेकिन देखनेवाला द्रष्टा असत्य नहीं हो सकता है। वह स्वप्न नहीं हो सकता है, अन्यथा स्वप्न देखना उसे संभव नहीं हो सकता था।** स्वप्न ही स्वप्न को नहीं देख सकता है। असत्य ही असत्य को नहीं जान सकता है। स्वप्न देखने को कोई चाहिये जो कि स्वप्न न हो। असत्य, दर्शन को भी सत्य द्रष्टा अपरिहार्य है। इसलिये मैं कह रहा हूँ कि मैं सत्य हूँ। सत्य ही मेरा होना (Being) है। **इसे खोजने कहीं नहीं जाना है। इसे**

अपने में ही खोद लेना हैं। कुआँ खोदते है न? वैसे ही इसे भी खोद लेना है। मिट्टी की कुछ पर्तें जल-स्रोत को दवाये रहती हैं—उन पर्तों को हटाना भर है और जल-स्रोत उपलब्ध हो जाते हैं। स्वयं को कुछ पर की, अन्य की पर्तों ने दबा रखा है। उन्हें भर तोड़ना है—और वह उपलब्ध हो जाता है जिसकी कि जन्म जन्म से खोज थी। और, जिसका पाना नहीं हो सका है **क्योंकि उसे हम दूर खोजते रहे हैं जबकि वह निकट ही है.....जबकि वह वही है, जो कि खोज रहा है।**

आत्मा का कुआँ खोदना है। उस खुदाई का उपकरण ध्यान (Meditation) **है। ध्यान की कुदाली से स्वभाव पर बैठी 'पर-भाव' की मिट्टी की पर्तें खोदनी होती हैं। यही उपचार है।** इसकी ही मैं चर्चा करना चाहता हूँ। स्वभाव पर मेरी स्व-सत्ता पर किसिका आच्छादन है, यह जानना सबसे पहले जरूरी है। वह क्या है जो मुझे मुझसे ही छिपाये हुये है?

क्या आपको दीखता है....क्या आच्छादन समझ में नही आता है? जब भीतर जाते हैं तो किसे पाते हैं? ह्यूम ने कहा है: 'जब भी मैं भीतर गया तो विचारों और विचारों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं पाया।' उसे कोई आत्मा नहीं मिली। ऐसे तो आपको भी नहीं मिलेगी। वह आच्छादन से ही लौट आया था। वह उस खोल से ही लौट आया, जिसे तोड़कर ही भीतर जो है, उसके दर्शन किये जा सकते हैं, जैसे कोई किसी झील पर जाये और उसकी सतह पर आच्छादित काई और पत्तों को देखकर लौट आवे —और कहे कि वहाँ तो कोई झील ही नहीं है। साधारणत: ऐसा ही होता है......भीतर तो हम रोज आते हैं पर उन विचार-वस्त्रों को देखकर ही लौट आते हैं जो कि सतत ही **वहां मौजूद है। विचार के अतिरिक्त आप कुछ नहीं जानते हैं। वही आपका संसार है। और जो केवल विचारों में ही जीता है, वही संसारी है—विचारों के पार किसी को जानना, धार्मिक होने का प्रारम्भ है।**

निर्विचार को जानना धर्म में प्रवेश है। यह हो सकता है कि आपके विचार संसार के न हों——आत्मा के हों, परमात्मा के हों, और आप भ्रम

में हो कि आप धार्मिक हैं। मैं आपके इस भ्रम को तोड़ देना चाहता हूँ। विचार मात्र आच्छादन है। विचार मात्र विकार है, क्योंकि विचार मात्र बाह्य है। कोई विचार स्व का नहीं होता है। **स्व का विचार नहीं होता, ज्ञान होता है।**

विचार का आच्छादन है: निर्विचार से उद्घाटन हो सकता है। निर्विचारणा ध्यान है। जब कोई विचार नहीं होता है, तब हम उसे जानते हैं जो कि विचारोंमें छुपा हुआ था। बदलियाँ जब नहीं होती हैं, तब नीलाकाश प्रगट होता है। मित्र, एक आकाश भीतर भी है----विचार की बदलियों को बिदा करना है, ताकि वह जाना जा सके। यह हो सकता है: जब आँख शान्त होती है और उसमें कोई विचार नहीं होता है, तभी उस मौन में उस प्रगाढ़ निर्विचार......निर्विकल्प अवस्था में सत्य का दर्शन होता है।

क्या करें कि यह हो? एक बहुत सरल सी बात करनी है, पर वह बहुत कठिन मालूम होगी क्योंकि हम बहुत जटिल हैं। एक अभी-अभी जन्मे बच्चे को जो संभव है, वही हमें असंभव हो गया है। **फिरसे, जगत् को और स्वयं को वैसे देखना है जैसा कि अभी अभी-जन्मा बच्चा देखता है। वह केवल देखता है और सोचता नहीं है। वह केवल देखता है। यह 'केवल देखना'** (Just seeing) **अद्भुत है। यह वह रहस्य कुंजी है जिससे सत्य का द्वार खोला जा सकता है।** मैं आपको देख रहा हूँ---मैं बस देख रहा हूँ---देखते हैं--- मैं सोच नहीं रहा हूँ, और तब एक अपूर्व सन्नाटा, एक जीवित शांति भीतर अवतरित हो जाती है---तब सब देखा जाता है, तब सुना जाता है, पर भीतर कुछ कंपित नहीं होता है और भीतर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती है। विचार नहीं होते हैं, और केवल दर्शन होता है।

सम्यक् दर्शन (Right Awareness) ध्यान की विधि (Method of Meditation) है। देखना है, मात्र देखना है, जो बाहर है उसे और जो भीतर है उसे भी। बाहर वस्तुयें हैं, भीतर विचार है। इन्हें देखना है, ऐसे ही जैसे कि हम सब निष्प्रयोजन उन्हें देख रहे हैं। कोई प्रयोजन नहीं है, बस देख रहे हैं। **एक साक्षी** (Witness) **मात्र हैं---तटस्थ साक्षी हैं और**

देख रहे हैं।] यह निरीक्षण, यह सजगता क्रमशः शांति में, शून्य में, निर्विचार में ले जाती है। करें और जानें। **विचार जैसे विलीन होते हैं, वैसे-वैसे चेतना जागती और जीवित होती है।** कहीं भी, कभी भी ––अनायास दो क्षण को रुक जावें और देखें––सुनें––साक्षी हों––जगत के और स्वयं के। सोचें नहीं, साक्षी हों। और फिर देखें कि क्या होता है? फिर इस साक्षी भाव को फैलने दें––वह आपकी सारी शारीरिक और मानसिक क्रियाओं में उपस्थित हो। वह सतत् साथ हो––वह होगा तो आप मिट जावेंगे और उसका दर्शन होगा जो कि वस्तुतः आप हो। **'मैं' तो मिट जाता है। और मैं मिल जाता है। साक्षी साधना में, तटस्थ दृष्टा के निरीक्षण में, उसपर से जिसके कि हम साक्षी हैं, उसपर अनायास संक्रमण (Transformation) परिवर्तन हो जाता है जो कि साक्षी है। विचारों को देखते देखते ही उसकी झलकें आने लगती हैं जो कि उन्हें देख रहा है––और फिर जब एक दिन वह अपनी पूरी गौरव गरिमा में प्रगट होता है तो हमारी सारी दरिद्रता और दीनता मिट जाती है।**

यह साधना ऐसी नहीं है कि कभी की––और मुक्त हुये। इसे तो सतत और अहर्निश साधना है। वह क्रमशः सारे समय पर व्याप्त हो जाती है। साक्षी भाव को करते करते––उस भाव में जाते जाते ––वह भाव थिर हो जाता है––वह भाव निरंतर उपस्थित रहने लगता है। उठते-बैठते, चलते-रुकते वह मौजूद रहता है। धीरे धीरे जागते-सोते भी रहने लगता है। निद्रा में भी वह बना रहता है––और जब वह निद्रा में भी बना रहने लगे तो जानना चाहिये कि वह प्रगाढ़ हुआ है––और उसने भीतर प्रवेश किया है। **अभी तो हम जागे हुये भी सोये है––तब सोये हुये भी जागे रहते हैं।**

साक्षी भाव की साधना जागरण से विचार और निद्रा से स्वप्न को विसर्जित कर देती है। विचार और स्वप्न-शून्य चित्त अपनी तरंगें खो देता है। वह निस्तरंग होता है और निष्कंप––जैसे किसी सागर पर लहरें न हों और वह निस्तरंग (Waveless) होता है और जैसे किसी ऐसे गृह में जहाँ हवा

के झोंके नहीं होते हैं, तो दिये की लौ निष्कंप होती है। इस स्थिति में जाना जाता है जो स्व है---जो मैं हूँ---जो सत्य है। और, प्रभु के भवन के द्वार खुलते हैं।

शास्त्रों में, शब्दों में नहीं, स्वयं में यह द्वार है। इसलिये मैंने कहा कि कहीं और न खोजें---वरन अपने में ही खोदें। कहीं न जावें, स्वयं में जावें। इस जाने के लिये मैंने विधि को समझाया है। आपकी आँखों में आई शांति और चमक से मैं समझता हूँ कि आप समझे हैं। पर इतनी समझ ही काफी है। बौद्धिक समझ (Understanding) पर्याप्त नहीं है--वह नहीं, आत्मिक अनुभूति (Experience) ही सत्य जीवन का आधार बनती है। जो मैंने कहा है, उस दिशा में थोडा चलके देखें---उस दिशा में थोडा होके देखें--आप थोड़ा ही चलें तो बहुत पहुँच जावेंगे क्योंकि सत्य की ओर चलने पर जैसे जैसे हम उसके निकट होते हैं वैसे वैसे उसका गुरुत्वाकर्षण (Gravitation) भी प्रभावी होता जाता है, और हम चलते ही नहीं, खींच भी लिये जाते हैं!

और अंत में इतना स्मरण रखे कि जो चलते हैं वे अवश्य पहुँच जाते हैं।

परमात्मा की ओर उठाया कोई भी कदम व्यर्थ नहीं जाता है। मैं इस सत्य की गवाही दे रहा हूँ।

मैं चाहता हूँ कि एक क्षण आप भी उस सत्य को जानें और गवाही दे सकें। वह निकट ही है---केवल आपके जागने भर की बात है। सूरज तो निकला ही हुआ है---केवल आप आँख भर खोल लें? इस आँख खोलने के लिये ही मैं आमन्त्रण दे रहा हूँ---क्या आप मेरी पुकार सुनेंगे और आँख खोलेंगे? यह निर्णय और संकल्प आप पर और केवल आप पर ही निर्भर है।

परिशिष्ट—१

प्रश्नोत्तर

प्रश्न १ : क्या आप तत्वदर्शन का कोई मूल्य नहीं मानते हैं? क्या सत्य को जानने के लिये सत्य के संबंध में जानना आवश्यक नहीं है?

☆ **सत्य को जानने के पूर्व सत्य को नहीं जाना जा सकता है।** और सत्य के सम्बन्ध में मैं जानना, सत्य को जानना नहीं है। वह सब असत्य है। वह इसलिये असत्य है क्योंकि स्वानुभव के अभाव मे उसे समझा ही नहीं जा सकता है। वह कहने वाले की ओर से नहीं, सुननेवाले की ओर से असत्य है। मैं सत्य के संबंध में जो कहूँगा....क्या आप वही समझेंगे? यह तो संभव नहीं है। **क्योंकि वही समझने के लिये आपका वही और वहीं होना जरूरी है, जो मैं हूँ, और जहां मैं हूँ।** वह आप तक पहुँचते पहुँचते ही असत्य हो जाता है। यह इसलिये होता है क्योंकि मैं तो शब्द ही दूँगा पर उनका अर्थ आपके भीतर से आयेगा। वह अर्थ आपसे पैदा होगा और वह आपसे अन्यथा नहीं होगा। शब्द मेरे होंगे, अर्थ आपका होगा। वह अर्थ आपसे ज्यादा और आपकी अनुभूति से ऊपर नहीं हो सकता है।

क्या आप सोचते हैं कि जब आप गीता पढ़ते हैं तब आप कृष्ण को पढ़ते हैं? ऐसा सोचते हों तो बड़ी भूल में हैं....मित्र, गीता में आप अपने को ही पढ़ते हैं....अन्यथा गीता के इतने अर्थ और टीकायें क्या संभव थीं? प्रत्येक शास्त्र में हम अपनी ही शक्ल देख लेते हैं।.....और प्रत्येक धर्म हमारे लिये दर्पण से भिन्न नहीं है।

सत्य को जानने के पूर्व सत्य नहीं, शब्द ही जाने जा सकते हैं, वे शब्द दूसरों के होंगे, पवित्र ग्रंथों और अवतारों-तीर्थकरों के होंगे, पर उनमें अर्थ हमारा ही होगा, उनके भीतर मैं ही रहूँगा। क्या तथाकथित धर्मोंमें जो भेद और वैमनस्य है, उसका कारण यही नहीं है? **क्या बुद्ध और क्राइस्ट में विरोध और वैमनस्य संभव है? वह मेरा और आपका वैमनस्य है, वह मेरा और आपका अर्थ है, वह मेरा और आपका विरोध है जो हम उनके नाम से चला रहे हैं !**

सत्य को जो जानते हैं, उनसे धर्म प्रगट होता है, पर जो सत्य को सुनते और मानते हैं, उनसे धर्म नहीं, संप्रदाय बनते और संगठित होते हैं। इसलिये धर्म तो एक ही है, पर सप्रदाय अनेक है, क्योंकि सत्यको 'जानना' तो एक ही अनुभूति है पर सत्य को 'मानना' एक ही नहीं है। **ज्ञान एक ही है, पर मान्यतायें उतनी ही हैं जितने कि मानने वाले हैं।**

धर्म (Religion) का जन्म तो सत्य-दर्शन से होता है, पर धर्मो (Religions) का जन्म सत्य-अदर्शन से होता है। धर्मचक्र का प्रवर्तन तो वे करते हैं, जो जानते है, पर धर्म सगठन वे करते हैं, जो नही जानते हैं, और उनके सद्प्रयासों में ही धर्म अधर्म हो जाता है। मनुष्य का पूरा इतिहास इस दुर्भाग्य से पीडित रहा है।

प्रश्न २ : सत्य की कोई धारणा बिना बनाये तो हम उनके संबंध में कुछ सोच ही नहीं सकते हैं?

☆ **मैं सोचने को कह भी नहीं रहा हूँ। सोचना आपके जानने से ऊपर कभी नहीं जाता है।** और यदि आप सत्य को नहीं जानते हैं, तो उसके संबंध में सोच ही कैसे सकते है? सोचना (Thinking) सदा जानने की सीमा में ही होता है। वह उसी की जुगाली है। सोचना.....विचारना सृजनात्मक (Creative) कभी नहीं है, वह केवल पुनर्वृत्यात्मक (Repeatitive) है। जो अज्ञात है, वह उससे नहीं जाना जा सकता है। उसे जानना है, तो जो हम जानते ही है, उसके बाहर चलना जरूरी है। **अज्ञात में प्रवेश के लिये ज्ञाततटों को छोडना ही होता है।**

इसलिये, अच्छा है कि सत्य की कोई धारणा न बनावें। वह धारणा एकदम ही असत्य होगी। वह निष्प्राण शब्द ही होगी........जीवित अर्थ नहीं। वह शब्द परम्परा से आदृत हो सकता है......हजारों लोगों से पूज्य हो सकता है....उसके समर्थन में धर्मशास्त्र हो सकते है, पर उसका आपके लिये कोई मूल्य नहीं है। सत्य-साधक के लिये वह निर्मूल्य ही नहीं घातक भी है। उस शब्द के घेरे मे से ..उस शब्द की चौखट में से, सत्य के खंडित आकाश को देखना एक बात है...और सारे घेरों और चौखटों के बाहर आकर अखंड आकाश के दर्शन करना बिल्कुल ही दूसरी बात है। आकाश किसी घेरे में नहीं है...सत्य भी किसी घेरे मे नहीं है। **सब घेरे मनुष्य निर्मित हैं....सब धारणायें मनुष्य निर्मित हैं...सब शब्द मनुष्य द्वारा दिये गये हैं....सत्य वह है जो मनुष्य निर्मित नहीं है।** उस सत्य को जानना है....तो चलें, थोडा अपने घरों से बाहर चलें....शब्दों और विचारों और अपने तथाकथित ज्ञान के बाहर चलें....ज्ञात को छोड़ें ताकि अज्ञात आ सके और मनुष्य-सृष्ट धारणाओं को छोड़े, ताकि उसका साक्षात हो सके। जो कि सृष्ट नही है, वल्कि समस्त सृष्टि का आधार है।

प्रश्न ३ : शास्त्रों के बिना हम सत्य को जान ही कैसे सकते है? सत्य का ज्ञान तो उन्हीं से होता है।

* क्या आप सोचते हैं कि समस्त शास्त्र नष्ट हो जावें तो सत्य नष्ट हो जायेगा? क्या सत्य शास्त्र निर्भर है या कि शास्त्र ही सत्य निर्भर है?

मित्र, शास्त्रों से सत्य कभी नही पाया गया है, विपरीत सत्य को पाने से ही शास्त्र पाये गये है। शास्त्रों का मूल्य नहीं, मूल्य सत्यका है, क्योंकि मूल शास्त्र नहीं, मूल सत्य है।

और यदि शास्त्रों से सत्य मिल सकता तो बहुत सस्ती बात होती... वह स्वयं को बदले बिना ही हो जाता। पर शास्त्र स्मृति को ही भर सकते हैं, स्वयं एक बोध नहीं दे सकते है। और, सत्य की दिशा में स्मृतिप्रशिक्षण (Memory Training) से कुछ भी नही होता है....उसके लिये तो

स्व-परिवर्तन (Self-Transformation) का मूल्य चुकाना होता है।

शास्त्र आपको पंडित बना सकते हैं....ज्ञान का उनसे जन्म नहीं होता है।

शास्त्रों से और शास्त्रों का जन्म हो सकता है। यह स्वाभाविक ही है; पार्थिव से पार्थिव ही पैदा हो सकता है। पर, ज्ञान उनसे कैसे आविभूत होगा? **वह तो चैतन्य का स्वरूप है। वह जड़ से नहीं आ सकता है।**

शास्त्र जड़ हैं, सत्य जड़ नहीं है। उनसे जड़ स्मृति समृद्ध हो सकती है: चेतन ज्ञान उनमें गति से नहीं, स्वयं में गति से उपलब्ध होता है।

आप कहते हैं कि शास्त्रों के बिना हम सत्य को जान ही कैसे सकते हैं? **मैं कहूँगा कि शास्त्रों के बीच में रहते आप सत्य को कैसे जान सकते हैं?**

यह मिथ्या धारणा कि सत्य कहीं से मिल सकता है ...शास्त्र से या गुरु से....आपको स्वयं मैं नहीं खोजने देती है। यह धारणा बहुत बाधा है। यह भी संसार में ही तलाश है। स्मरण रहे कि शास्त्र भी संसार के ही हिस्से है। जो भी बाहर है, वही संसार है, सत्य वहाँ है ,जो बाहर नहीं हैं, क्योंकि स्व वहाँ है।

स्व ही वास्तविक शास्त्र है, और स्व ही वास्तविक गुरु है.... उसमें प्रवेश से ही सत्य उपलब्ध होता है।

प्रश्न ४ : बुद्धि जो बताती है कि सत्य है, क्या वह सत्य नहीं है?

☆ बुद्धि (Intellect) विचार करती है। ज्ञान उसे नहीं होता। विचार अंधेरे में टटोलना है, वह जानना नहीं है। सत्य विचारा नहीं जाता। उसका दर्शन होता है। उसका साक्षात होता है। यह बुद्धि से नहीं होता, वरन् जब बुद्धि शांत और शून्य होती है, तब होता है। वह अंतर्बोध की स्थिति, बुद्धि नहीं, प्रज्ञा (Intution) है।

प्रज्ञा विचार नहीं आँख है। जैसे अंधे व्यक्ति को आँख मिल जावे .ऐसे ही वह सत्य के लिये आँख है।

विचार से कोई कभी कहीं पहुँचता नहीं है। वह अंतहीन टटोलना है। जैसे अंधा व्यक्ति अनन्त तक टटोलता रहे तो भी क्या वह टटोलने से

प्रकाश को पा सकेगा? टटोलने और प्रकाश में जैसे कोई संबंध नहीं है, वैसे ही विचारने और सत्य में भी नहीं है। वे दोनों बिल्कुल भिन्न आयाम (Dimension) हैं।

प्रश्न ५ : क्या कृष्ण या क्राइस्ट के साक्षात् को आप आत्मिक अनुभव नहीं मानते हैं ?

☆ नहीं, वे आत्मिक अनुभव नहीं हैं। किसी का भी अनुभव आत्मिक अनुभव नहीं है। उस तल पर सब अनुभव मानसिक (Psychological) हैं। **जब तक 'किसी' का साक्षात् है, तब तक 'अपना' साक्षात् नहीं है।** उस तरह के अनुभवों में भी हम अपने से बाहर ही हैं और हमारा स्वयं में आना नहीं हुआ है। **वह आना तो तब होता है, जब बाहर कोई भी अनुभव नहीं होता है। जब कोई विषय** (Object) **चेतना के समक्ष नहीं होता है, तब वह सहज ही स्वयं में प्रतिष्ठित होता है। निर्विषय** (Objectless) **होकर ही चेतना स्वाधार होती है।**

मैं अपने से बाहर दो जगतों से घिरा हूं : एक पदार्थ (Matter) का, एक मन (Mind) का। वे दोनों ही मुझ से बाहर हैं। **पदार्थ तो बाहर है ही, मन भी बाहर है।** मन देह के भीतर होने से, भीतर होने का भ्रम देता है। वह भी 'भीतर' नहीं है। 'मैं', उसके भी पीछे हूं और उसके भी पार हूं। पदार्थानुभवों को हम आत्मिक समझने की भूल नहीं करते हैं...पर मानसिक अनुभवों को आत्मिक समझने की भ्रांति इसलिये ही हो जाती है, क्योंकि वे पदार्थ जगत् से भिन्न मालूम होते हैं, और आंख बंद करने पर दिखाई पड़ते हैं।

पर मानसिक अनुभवों में स्वप्न आदि को हम आत्मिक नहीं समझते ......क्योंकि उनकी सत्ता आंख बंद करने पर ही होती है, और जागरण .....बाहर के जगत् से संपर्क उन्हें खंड़ित कर देता है। उन मानसिक अनुभवों का ही आत्मिक और वास्तविक होने का भ्रम होता है, जिन्हें मानसिक प्रक्षेप (Mental Projection) कहा जाता है। **मन की यह क्षमता है कि वह स्वयं को इतना सम्मोहित** (Hypnotise) **कर सकता है कि जिन स्वप्नों को उसने केवल आँख बन्द करके देखा है, उन्हें**

आँख खोलकर भी देख सके। यह एक तरह की जाग्रत-सुषुप्ति (Waking Sleep) में होता है। भगवान के मनोनुकूल दर्शन ऐसे ही होते हैं। ऐसे साक्षात् मानसिक प्रक्षेप हैं। जो है, वह नहीं, जो हमने देखना चाहा है, वही हम उनमें देखते हैं। ये अनुभव न तो आत्मिक हैं. न भगवान के हैं, ये केवल मानसिक हैं......और आत्मसम्मोहन जनित हैं।

प्रश्न ६ : फिर भगवान के दर्शन कैसे होते हैं?

☆ यह 'दर्शन' शब्द भ्रामक है। इससे ऐसा प्रतिध्वनित होता है कि जैसे भगवान कोई व्यक्ति है, जिसका कि साक्षात् होगा और ऐसे ही 'भगवान' शब्द भी व्यक्ति का ही भ्रम देता है। **भगवान कोई नहीं है, केवल भगवत्ता है। व्यक्ति नहीं है, शक्ति है।**

शक्ति का अनन्त सागर है : चैतन्य का अनन्त सागर है...वही सब रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। वह भगवान सृष्टा (Creater) की भांति अलग नहीं है....वही है सृष्टि...वही है सृजनमत्मकता (Creativity)। जीवन वही है।

'अहम्' (Ego) से घिरकर हम इस 'जीवन' (Life) से भिन्न होने का आभास कर लेते हैं। **वही प्रभु से हमारी दूरी है; यूँ वस्तुतः दूरी असंभव है।** अहम् से, 'मैं' से पैदा हुआ आभास ही दूरी है। यह दूरी अज्ञान है : वस्तुतः दूरी नहीं है, अज्ञान ही दूरी है।

'मैं' मिट जाये तो जिस अनन्त अपरिसीम सृजनात्मक जीवनशक्ति का अनुभव होता है....वही भगवान है।

'मैं' की शून्यता पर जो अनुभव है, वही 'भगवान' का दर्शन है।

मैं क्या देख रहा हूं कि 'मैं' कहीं भी नहीं है...और जो सागर की लहरों में है वही में है, जो वसंत में नयी फूटती कोपलों में है, वही मुझमें है, जो पतझर में गिरे पत्तों में है, वही मुझमें है...मैं विश्वसत्ता से कहीं भी टूटा और पृथक नहीं हूं : उसमें हूं, वही हूं...यही अनुभव प्रभु-साक्षात् है।

ऋषि ने कहा है : 'तत्वामसि श्वेतकेतु' । श्वेतकेतु, वह तू ही है, (That Art Thou) **। ऐसा ही जिस दिन आपको दीखे, उस दिन जानना कि** प्रभु **साक्षात् हुआ है। इससे नीचे और इससे सब भिन्न** कल्पना (Imagination) **है ।**

प्रभु का दर्शन क्या होना है....स्वय ही प्रभु हो जाना है । बूँद सागर का दर्शन क्या करती होगी...मिट सकती है, तो सागर ही हो जाती है । बूँद होकर सागर उसे अनन्त दूरी पर है ..मिटकर वह स्वयं ही सागर है ।

भगवान को मत खोजो...भगवान होने को खोजो...**और खोजने का मार्ग वही है जो बूँद का सागर को खोजने का है ।**

प्रश्न ७ : में ईश्वर पर विश्वास करता हूँ । पर आप कहते हैं कि विश्वास घातक है, तो क्या मैं अपना विश्वास छोड़ दूँ?

☆ क्या आपके प्रश्न में ही उत्तर नही छिपा हुआ है? जो विश्वास पकड़ा और छोड़ा जा सकता है, क्या वह भी कोई विश्वास है? वह तो मात्र एक अंध मानसिक धारणा है...जिसका कि स्पष्ट ही कोई भी मूल्य नहीं है । वह अंधविश्वास है .और अंधापन तो जीवन में जितना कम हो, उतना अच्छा है ।

मैं विश्वास करने को नहीं, जानने को कहता हूँ ।

ज्ञान से, जानने से, साक्षात् से, जो चित्तस्थिति आती है, उसका मूल्य है । चाहें तो उसे सम्यक् श्रद्धा कहें.. पर वह श्रद्धा नहीं है, ज्ञान ही है ।

सत्य पर श्रद्धा मत करिये, शोध करिये...खोजिये, मान्यता मत पकड़िये कोई भी । वह चित्त की कमजोरी का लक्षण है । वह आलस्य है । वह प्रमाद है । वह वयं खोज के श्रम से बचने का घातक उपाय है । अंध-विश्वास साधना से पलायन है । एक अर्थ में वह आत्मघात ही है; क्योंकि जो उसमें गिरा वह सत्य तक उठने में असमर्थ हो जाता है । वे दोनों विपरीत

राहें हैं। एक है खाई...जिसमें गिरना होता है, दूसरा है पर्वत, जिसपर चढ़ना होता है।

श्रद्धा सरल है क्योंकि उसमें कुछ करना ही नहीं है। ज्ञान उस अर्थ में सरल नहीं है। वह पूरा जीवन परिवर्तन है। श्रद्धा मात्र वस्त्र है, ज्ञान अंतस्-क्रांति है। श्रद्धा की सरलता धर्म को सहज ही साधना की तपश्चर्या से अंध-विश्वास की निद्रा में गिरा देती है। धर्म श्रद्धा नहीं है; पर लोकधर्म श्रद्धा ही है। और, इसलिए जो लोकधर्म बना दीख रहा है, उसे मैं धर्म कहने में अपने को असमर्थ ही पाता हूं। उसके संबंध में मार्क्स ही सही है। वह धर्म नहीं नशा ही है।

परिशिष्ट–२

कुछ स्फुट विचार

यह कहा गया है कि आप शास्त्रों में विश्वास करो, भगवान के वचनों में विश्वास करो, गुरुओं में विश्वास करो, मैं यह नहीं कहता हूं। **मैं कहता हूँ कि अपने में विश्वास करो**..स्वयं को जानकर ही शास्त्रों में जो है, भगवान के वचनों में जो है, उसे जाना जा सकता है।

वह जो स्वयं पर विश्वासी नहीं है, उसके शेष सब विश्वास व्यर्थ है।

वह जो अपने पैरों पर नहीं खडा है, वह किसके पैरों पर खड़ा हो सकता है?

बुद्ध ने कहा है: अपने दीपक स्वयं बनो। अपनी शरण स्वयं बनो। स्वशरण के अतिरिक्त और कोई सम्यक् गति नहीं है।

यही मैं कहता हूं।

एक रात्रि एक साधु अपने किसी अतिथि को विदा करता था। उस अतिथि ने कहा: 'रात्रि बहुत अंधेरी है। मैं कैसे जाऊं?' साधु ने उसे एक दीपक जला कर दिया और जब वह अतिथि उस दीपक को लेकर सीढ़ियां उतरता था, उस साधु ने उसे फूककर बुझा दिया। पुनः राह पर घना अंधकार हो गया। उस साधु ने कहा : **'मेरा दीपक आपके मार्ग को प्रकाशित नहीं कर सकता है। उसके लिये अपना ही दीपक चाहिये।' उस अतिथि ने समझा और वह समझ उसके जीवन पथ पर एक ऐसे दिया का जन्म बन गई जो न तो छीना जा सकता है और न बुझाया ही जा सकता है!**

साधना, जीवन का, कोई खड अंश नहीं है। वह तो समग्र जीवन है। उठना, बैठना, बोलना, हंसना...सभी में उसे होना है। तभी वह सार्थक और सहज होती है।

धर्म कोई विशिष्ट कार्य....पूजा या प्रार्थना करने में नहीं है, वह तो ऐसे ढ़ंग से जीने में है कि सारा जीवन ही पूजा और प्रार्थना बन जावे। वह कोई क्रिया कांड (Ritual) नहीं है। वह तो जीवन-पद्धति है।

इस अर्थ में कोई कर्म धार्मिक नहीं होता है। व्यक्ति धार्मिक होता है... कोई आचरण धार्मिक नहीं होता है। जीवन धार्मिक होता है।

'मैं' की कारा से मुक्त होकर ही चेतना व्यक्ति से ऊपर उठती है और समष्टि से मिलती है। मैं का मृतिका-घेरा उसे वैसे ही सत्य से दूर किये है जैसे मिट्टी का घड़ा सागर के जल को सागर से अलग कर देता है।

यह 'मैं' क्या है? क्या इसे कभी आपने अपने में खोजा है ?

वह है क्योंकि हमने उसे खोजा नहीं है। मैं स्वयं जब उसे खोजने गया तो मैंने पाया कि वह नहीं है।

किसी शांत क्षण में अपने में उतरे और खोजें...वहां कोई भी 'मैं' नहीं मिलता है। 'मैं' नहीं है। वह तो समाजिक उपयोगिता से पैदा हुआ एक भ्रम मात्र है।

जैसा मेरा नाम है वैसा ही मेरा 'मैं' भी है। वे दोनों उपयोगितायें हैं, सच्चाईयां नहीं। **वह जो मेरे भीतर है, न तो उसका कोई नाम है और न उसमें कोई 'मैं' है।**

निर्वाण में, मोक्ष में या आत्मा में प्रवेश नहीं होता है। **क्योंकि जिस जगह को कभी छोड़ा ही नहीं है, उसमें प्रवेश कैसे हो सकता है ?**

फिर क्या होता है ?

निर्वाण में तो प्रवेश नहीं होता है, विपरीत जिस संसार में प्रवेश था, वही स्वप्न की भांति विलीन हो जाता है, और हम अपने को स्वयं में पाते हैं।

यह अनुभव किसी स्थान में प्रवेश जैसा नहीं ...**स्वप्न-यात्रा के टूट जाने पर अपनी ही शय्या पर अपने को पाने जैसा है।**

मैं कहीं गया नहीं हूं, इसलिये लौटने का प्रश्न नहीं है और मैंने कुछ खोया नहीं है, इसलिये पाने की बात कोई अर्थ नहीं रखती है।

मैं केवल स्वप्न में हूं......और मेरा सारा जाना और सारा खोना स्वप्न में है। इसलिये, न मुझे लौटना है, न पाना है.....**मुझे केवल जाग जाना है।**

सत्य साक्षात् पूर्ण और समग्र ही होता है। वह उपलब्धि क्रमिक नहीं है। वह विकास (Evalution) नहीं, उत्क्रांति (Revolution) है।

क्या कोई स्वप्न से क्रमशः जागता है।

या तो स्वप्न है, या स्वप्न नहीं है। दोनों के बीच में कोई स्थिति नहीं होती है।

हां, साधना अनन्त समय ले सकती है। पर साक्षात् बिजली की कौंध की भांति ही उपलब्ध होता है....पल भर में और पूर्ण। वस्तुतः, उसकी उपलब्धि में समय का कोई भी हिस्सा नहीं लगता है, क्योंकि, समय में जो भी होता है, सब क्रमिक होता है।

साधना समय में है, साक्षात समय में नहीं है। वह कालातीत है।

सत्य-साक्षात् के लिये मात्र शुभ की और विराग की साधना ही पर्याप्त नहीं है। वह खंड साधना ही है। उसके **लिये तो शुभ और अशुभ, राग और विराग, संसार और मोक्ष......दोनों के ही ऊपर उठना आवश्यक होता है।** उस स्थिति का नाम ही वीतरागता है।

वीतराग-चैतन्य का अर्थ है कि जहां न राग है, न विराग है....न शुभ है, न अशुभ है....जहां मात्र चैतन्य ही है, शुद्ध और स्वयं में। इस भूमिका में ही सत्य का साक्षात् होता है।

असंलग्न और जागरुक चित्त को साधना है। जीवन में स्वास की भांति अहिर्निश उस भाव-भूमि को पिरोना है। प्रत्येक कार्य में जागरुक हों और असंलग्न हों......उसे ही कर्म में अकर्म कहा है। जैसे कि कोई नाटक में अभिनय करता है। होश तो रखता है अभिनय का पर उसमें संलग्न और मूर्च्छित नहीं होती है। **वह अभिनय में होकर भी उसके बाहर ही बना रहता है। ऐसा ही बनना और होना है।**

कर्म में लगे हुये यदि जागरुकता हो तो असंलग्नता कठिन नहीं होती। वह उसका ही परिणाम है।

मैं राह पर चल रहा हूं। **यदि चलने की क्रिया के प्रति मैं पूरी तरह जागा हुआ हूँ तो मुझे ऐसा लगेगा कि जैसे मैं चल भी रहा हूँ और नहीं भी चल रहा हूँ।** शरीर के तल पर ही चलना हो रहा है पर चेतना के तल पर कोई चलना नहीं है।

ऐसा ही भोजन करने में और अन्य कार्यों में भी लगेगा। मेरे भीतर एक केन्द्र केवल साक्षी ही रह जायेगा.....वह न कर्ता होगा, न भोक्ता होगा। इस केंद्र के अनुभव की जितनी प्रगाढ़ता होगी, उतना ही सुख-दुख के भाव विसर्जित होते जायेंगे। और उस निर्द्वन्द्व और शुद्ध चेतन्य की अनुभूति होगी जो कि हमारी आत्मा है।

मन (Mind) क्या है ? इंद्रियों से जो ग्रहण हुआ है, उसका संग्रह और संग्राहक मन है। यदि कोई इसे हि अपना स्व (Self) समझ लेता है तो उसने एक दास को ही मालिक समझ लिया है।

और यदि कोई चाहता है कि अपने वास्तविक 'स्व' को अनुभव करे तो उसे वह छोड़ देना होगा जो कि वह जानता है, और उसका अनुसरण करना होगा जो कि जानता है।

जो हम जानते हैं, वह हमारा मन है, और जिससे हम जानते हैं, वह हमारा 'स्व' है।

साक्षी, ज्ञाता ही 'स्व' है। यह 'स्व' जन्म और मृत्यु से भिन्न है......माया और मुक्ति से अन्य है......वह तो केवल साक्षी है....सबका साक्षी है....प्रकाश का, अंधकार का, संसार का, निर्वाण का। वह सब द्वैत के अतीत है।

वस्तुतः तो वह 'स्व' और 'पर' के भी अतीत है, क्योंकि वह उनका भी साक्षी है।

इस साक्षी को पहचानते ही व्यक्ति कमल की भांति हो जाता है। ......जिस किचड से पैदा हुआ है उससे पृथक् और जिस पानी में जिता है, उससे अलिप्त। वह जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में.....सुख में...... दुःख में सम्मान में, अपमान में....समभावी होता है, क्योंकि वह केवल साक्षी ही है। जो भी हो रहा है, वह उस पर नहीं, केवल उसके समक्ष ही हो रहा है। **वह दर्पण की भांति ही हो जाता है जो कि अनेक प्रतिमाओं को अपने में प्रतिफलित करता है, लेकिन उनमें से किसी के भी चिह्न उस पर पीछे छूट नहीं जाते हैं।**

एक वृद्ध साधु अपने एक युवा साथी के साथ नदी पार कर रहा था। युवक ने उससे पूछा : 'नदी कैसे पार करें?'

वृद्ध ने कहा : **'ऐसे कि तुम्हारे पैर गीले न हों।'**

युवक ने सुना। और जैसे एक बिजली कौंध गई हो, ऐसे कुछ उसके सामने स्पष्ट और प्रत्यक्ष हो गया। वह नदी तो आई और पार हो गई पर वह रहस्य सूत्र उसके हृदय में बैठ गया। वह उसका मार्ग और जीवन बन गया। **वह ऐसे नदी पार करना सीख गया जिसमें कि पैर गिले नहीं होते हैं।**

वह जो कि भोजन करता है लेकिन उपवासा है, वह जो कि भीड़ में है पर अकेला है, वह जो कि सोता है पर सदा जाग्रत है......, ऐसे व्यक्ति बनो, क्योंकि ऐसा व्यक्ति ही संसार में मोक्ष को उपलब्ध होता है और वही पदार्थ में परमात्मा को पा लेता है।

किसी ने कहा है : 'चित्त में संसार न हो, संसार में चित्त न हो।..... यह सूत्र है।' पर इसमें पहला आधा यदि पूरा हो तो शेष आधा अपने आप आ जाता है। प्रथम आधा अंश कारण (Cause) है, शेष आधा कार्य (Effect) है। प्रथम सधे तो द्वतीय उसका सहज परिणाम (Conseqence) है। पर जो दूसरे से प्रारम्भ करते हैं, वे भूल में पड़ जाते हैं। वह आधार नहीं है। वह कारण नहीं है। वह मूल नहीं है।

इसलिये मैं कहता हूँ कि सूत्र इतना ही है कि **चित्त में संसार न हो।** शेष सूत्र नहीं है, सूत्र का परिणाम है। **चित्त में संसार नहीं है, तो संसार में चित्त अपने आप नहीं रह जाता है। जो चित्त में नहीं है, उसमें चित्त का होना असंभव है।**

समाधि में जानने को कोई विषय (Object) नहीं होता है...... कोई ज्ञेय नहीं होता है......इसलिये समाधि की स्थिति को 'ज्ञान' नहीं कहा जा सकता है। वह साधारण अर्थों में ज्ञान है भी नहीं, पर वह 'अज्ञान' भी नहीं है।.....वहां 'न जानने को' भी कुछ नहीं है। **वह ज्ञान और अज्ञान दोनों से भिन्न है।** वह किसी 'विषय' का जानना या न जानना दोनों ही नहीं है, क्योंकि वहाँ कोई विषय ही नहीं है। वहाँ तो केवल 'विषयी' (Subjectivity) ही है। वहाँ तो केवल वही है, जो जानता है। वहाँ किसी का ज्ञान नहीं है, केवल ज्ञान (contenless cnsciousness) ही है।

एक साधु से किसी ने पूछा था : 'ध्यान क्या है?' उसने कहा : **'जो निकट है उसमें होना ध्यान है।'**

आपके निकट क्या है? आपके स्वयं के अतिरिक्त जो भी है, क्या वह सब दूर ही नहीं है?

आप ही केवल अपने निकट हो....पर हम सदा इसे छोड़कर कहीं और बने रहते है। हम सब सदा पड़ोस में ही बने रहते हैं। पड़ोस में नहीं, अपने में होना है, वही ध्यान है, वही सामायिक है।

जब आप कहीं भी नहीं हो (No-where) और आपका चित्त कहीं भी नहीं है .....तब भी तो आप कहीं हो....वही होना ध्यान है।

मैं जब कहीं भी नहीं तब मैं स्वयं में हूँ। वही पड़ोस में न होना है...... वही दूर न होना है। वही आंतरिकता है। वही निकटता (Intimacy) है। उसमें होकर ही सत्य में जागरण होता है। पड़ोसमें होकरही हमने सब कुछ खोया है, स्वयं में होकर ही उसे वापस पाया जाता है।

मैं संसार को छोड़ने को नहीं, अपने को वदलने को कहता हूँ। संसार निषेध से आप नहीं बदलोगे, लेकिन आप बदल गये तो आपके लिये संसार नहीं ही हो जाता है। **वास्तविक धर्म संसार-निषेधक (World-Rejecting) नहीं होता है। वह संसार-निषेध नहीं, आत्म-परिवर्तक (Self-transfiguring) होता है।**

संसार नहीं, संसार के प्रति अपनी दृष्टि पर विचार करो। उसे बदलना है। उसके कारण संसार है और बंधन है। संसार नहीं, वही बंधन है। दृष्टि **बदली कि सृष्टि बदल जाती है।**

संसार में दोष नही है, दोष स्वयं में है और स्वयं की दृष्टि में है।

जीवन-परिवर्तन का विज्ञान योग है। पदार्थ-विज्ञान अपने विश्लेषण से अणु पर पहुँचता है....अणु-शक्ति पर....योग आत्मा पर पहुँचता है......आत्म-शक्ति पर। एक से पदार्थ में छिपे रहस्य का पर्दा उठता है; दूसरे से स्वयं में छिपे जगत् का उद्घाटन होता है। **पर दूसरा प्रथम से महत्वपूर्ण है....क्योंकि स्वयंसे महत्वपूर्ण इस विश्व में और कुछ भी नहीं है।**

मनुष्य ने अपना संतुलन खो दिया है, क्योंकि वह पदार्थ के संबंध में तो बहुत जानता है, पर स्वयं के संबंध में कुछ भी नहीं जानता है। वह सागर की गहराईयों में जाना सीख गया है, और अंतरिक्ष की ऊँचाईयों पर....पर स्वयं में जाना वह भूल ही गया है। यह स्थिति बहुत आत्म-घातक है। हमारा दुख यही है।

योग इस असंतुलन से मुक्ति दे सकता है। उसकी शिक्षा की आवश्यकता है। उससे ही सच्चे अर्थों में एक नये मनुष्य का जन्म हो सकता है और एक नयी मनुष्यता की आधार-शिलायें रखी जा सकती हैं।

विज्ञान ने मनुष्य की पदार्थ पर विजय घोषित कर दी है ....अब मनुष्य को स्वयं अपने पर भी विजय करनी है। पदार्थ की शक्ति पर उसकी विजय ने यह अपरिहार्य कर दिया है कि वह अब अपने को भी जाने और जीते........ अन्यथा पदार्थ की अपरिसीम शक्तियों पर उसकी विजय उसकाही सर्वनाश बन जावेगी **क्योंकि शक्ति अज्ञान के हाथों में सदा ही विषाक्त और आत्मघाती है।**

विज्ञान अज्ञान के हाथों में हो तो यह जोड़ विध्वंशात्मक (Destructive) है। वह ज्ञान के हाथों में हो, तो एक अभूतपूर्व सृजनात्मक (Creative) ऊर्जा का जन्म होगा जो कि पृथ्वी को स्वर्ग में परिणत कर सकती है। **इसलिये, मैं कहता हूँ कि मनुष्य का भाग्य और भविष्य अब योग के हाथों में है। योग भविष्य का विज्ञान है, क्योंकि वह मनुष्य का विज्ञान है।**

समापन : ८ जून १९६४

संकल्प का, पूर्ण संकल्प का एक क्षण भी बहुत है। संकल्प-हीन पूरा जीवन भी कुछ भी नहीं है। स्मरण रहे कि समय नहीं, संकल्प महत्वपूर्ण है। संसार की उपलब्धियां समय में और सत्य की उपलब्धियां संकल्प में होती हैं।

"मैं आज क्या कहूँ ?

संध्या हम विदा होंगे और उस घडी के आगमन के विचार से ही आपके हृदय भारी है। इस निर्जन में अभी पाँच दिवस पूर्व ही हमारा आना हुआ था और तब जाने की बात किसने सोची थी ?

पर, स्मरण रहे कि आने में, जाना अनिवार्यरूपेण उपस्थित ही रहता है। वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वे साथ ही साथ है, यद्यपि दिखाई अलग अलग देते हैं। उनके अलग-अलग समयों में दिखाई पड़ने से हम भ्रम में पड़ जाते हैं, पर जो थोड़ा गहरा देखेगा, वह पायेगा कि मिलन ही विदा है, और सुख ही दुख है, और जन्म ही मृत्यु है।

सच ही, आने और जाने में कितना कम फासला है......या कि फासला है ही नहीं।

जीवन में भी ऐसा ही है....आ भी नहीं पाते हैं कि जाना प्रारम्भ हो जाता और जिसे हम रहना कहते हैं, क्या वह जाने की तैयारी मात्र ही नहीं है ?

जन्म और मृत्यु में दूरी ही कितनी है ?

पर वह दूरी बहुत भी. . . . अनन्त भी हो सकती है। जीवन, साधना बने, तो वह दूरी अनन्त हो सकती है।

जीवन साधना बने, तो मृत्यु मोक्ष बन जाती है। और, जन्म और मृत्यु में तो बहुत दूरी नहीं है, पर जन्म और मोक्ष में तो अनन्त दूरी है !

वह दूरी उतनी ही है,जितनी कि शरीर और आत्मा में है, जितनी कि स्वप्न और सत्य में है, और वह दूरी सर्वाधिक है। उससे अधिक दूरी पर और कोई दो बिन्दु नहीं है।

मैं शरीर हूँ यह भ्रम (Illusion) मृत्यु है, मैं आत्मा हूँ यह साक्षात् (Realisation) मोक्ष है।

जीवन इस सत्य-साक्षात् के लिये अवसर है। इस अवसर का उपयोग हो.....यह अवसर व्यर्थ न खोया जावे, तो जन्म और मृत्यु में अनन्त फासला हो जाता है।

और, इन बीते थोड़े से दिनों में ....हमारे यहाँ आने और जाने में भी बहुत फासला हो सकता है। क्या यह नहीं हो सकता है कि हम जो आयें हों, वही वापस न लौटें ? क्या आप एक बिल्कुल नये व्यक्ति होकर वापस नहीं लौट सकते हैं ?

वह क्रांति आप चाहें तो एक क्षण में भी हो सकती है....पाँच दिन तो बहुत ज्यादा हैं, और अन्यथा पाँच जन्म भी थोड़े हैं, पाँच दिनों की तो बिसात ही क्या ?

संकल्प का, पूर्ण संकल्प का एक क्षण भी बहुत है। संकल्पहीन पूरा जीवन भी कुछ भी नहीं है।

स्मरण रहे कि समय (Time) नहीं, संकल्प (Will) महत्वपूर्ण है। **संसार की उपलब्धियाँ समय में, और सत्य की उपलब्धियाँ संकल्प में होती हैं।**

संकल्प की प्रगाढ़ता, एक क्षण को ही, अनन्त विस्तार और गहराई दे देती है। वस्तुतः, संकल्प की प्रगाढता में समय (Time) मिट ही जाता है, और केवल शाश्वतता (Eternity) ही शेष रह जाती है।

संकल्प द्वार है जो समय से मुक्त करता और शाश्वता से जोड़ता है।

अपने संकल्प को घना और प्रगाढ़ होने दें....वह श्वाँस-श्वाँस में परिव्याप्त हो जावे। वह सोते जागते स्मृति में हो। उसीसे नया जन्म होता है। वह जन्म होता है जिसकी कि कोई मृत्यु नहीं है। वही वास्तविक जन्म है। एक जन्म शरीर का है। पर उसकी परिणति मृत्यु है......... अनिवार्य मृत्यु है। इसलिये, मैं उसे वास्तविक जन्म नहीं कहता हूँ। **जो मृत्यु में समाप्त हो, वह जीवन का प्रारम्भ कैसे हो सगता है ?**

पर, एक जन्म और भी है, जिसकी परिसमाप्ति मृत्यु में नहीं होती है। वही वास्तविक है, क्योंकि उसकी परिपूर्णता अमृत में है।

उस जन्म के लिये ही इन दिनों मैंने आपको आमंत्रित किया और पुकारा है। उसके लिये ही हम यहाँ इकट्ठे हुये थे।

पर हमारे इकट्ठे होने का मूल्य नहीं है....आप अपने भीतर...... प्रत्येक अपने भीतर इकट्ठा......एक होकर पुकारे और प्यासा हो, तो वही समग्र चित्त का संकल्प सत्य की निकटता में परिणत हो जाता है। **सत्य तो निकट है पर हममें उसके निकट होने का संकल्प चाहिये ।**

सत्य के लिये प्यास आप में हैं, पर संकल्प भी चाहिये....**संकल्प से संयुक्त होकर ही प्यास साधना बनती है।**

संकल्प का क्या अर्थ है ?

एक व्यक्ति ने किसी फकीर से पूछा कि प्रभु को पाने का मार्ग क्या है ? उस फकीर ने उसकी आँखों में झाँका। वहाँ प्यास थी। वह फकीर नदी जाता था। उसने उस व्यक्ति को भी कहा : 'मेरे पीछे आओ। हम स्नान कर लें, फिर बताऊँगा।' वे स्नान करने नदी में उतरे। वह व्यक्ति जैसे ही पानी में डूबा, फकीर ने उसके सिर को जोर से पानी में ही दबाकर पकड़ लिया। वह व्यक्ति छटपटाने लगा...वह अपने को फकीर की दबोच से मुक्त करने में लग गया। उसके प्राण संकट में थें। वह फकीर से बहुत कमजोर था, पर क्रमशः उसकी प्रसुप्त शक्ति जागने लगी। फकीर को उसे दबाये रखना असम्भव हो गया। वह पूरी शक्ति से बाहर आने में लगा था और अंततः वह पानी के बाहर आ गया। वह हैरान था...फकीर के इस व्यवहार को समझ पाना उसे संभव नहीं हो रहा था। क्या फकीर पागल था ? और फकीर जोर से हँस भी रहा था।

उस व्यक्ति के स्वस्थ होते ही फकीर ने पूछा: 'मित्र, जब तुम पानी के भीतर थे, तो कितनी आकाक्षायें थीं ?'

वह बोला,: 'आकांक्षायें? आकांक्षायें नहीं, बस एक ही आकांक्षा थी कि एक स्वाँस हवा कैसे मिल जाये ?'

वह फकीर बोला :

'प्रभु को पाने का रहस्य सूत्र(Secret) यही है। यही संकल्प है और संकल्प ने तुम्हारी सब सोयी शक्तियां जगा दीं। संकल्प के उस क्षण में ही शक्ति पैदा होती है और व्यक्ति संसार से सत्य में संक्रमण करता है।

संकल्प से ही संसार से सत्य में संक्रमण होता है और संकल्प से ही स्वप्न से सत्य में जागरण होता है।

विदा के इन क्षणों में, मैं यह स्मरण दिलाना चाहता हूँ।

संकल्प चाहिये और क्या चाहिये ? **और चाहिये साधना-सातत्य।** साधना सतत् होनी चाहिये। पहाड़ों से जल को गिरते देखा है ? **सतत् गिरते हुये जल के झरने चट्टानों को तोड़ देते हैं।**

व्यक्ति यदि अज्ञान की चट्टानों को तोड़ने में लगा ही रहे तो जो चट्टानें प्रारंभ में बिल्कुल राह देती नहीं मालूम होती है, वे ही एक दिन रेत हो जाती हैं, और राह मिल जाती है।

राह मिलती तो निश्चित है, पर वह बनी-बनाई नहीं मिलती है...... उसे स्वयं ही, अपने ही श्रम से बनाना होता है। और यह मनुष्य का कितना सम्मान है ! यह कितना महिमापूर्ण है कि सत्य को हम स्वयं अपने ही श्रम से पाते हैं !

'श्रमण' शब्द से, महावीर ने यही कहना चाहा है। **सत्य श्रम से मिलता है। वह भिक्षा नहीं है, सिद्धि है।**

संकल्प और सतत् श्रम और अनन्त प्रतीक्षा।

सत्य अनन्त है, और इसलिये उसके लिये अनन्त प्रतीक्षा और धैर्य आवश्यक है। अनन्त प्रतीक्षा में ही वह विराट अवतरित होता है।

जो धैर्यवान नहीं हैं, वे उसे नहीं पा सकते हैं।

विदा के इन क्षणों में, यह भी स्मरण दिलाना चाहता हूँ।

अंत में, एक कथा मुझे स्मरण आती है। बिल्कुल काल्पनिक कथा है। पर बहुत सत्य भी है! एक वृद्ध साधु के पास से कोई देवता निकलता था। उस साधु ने कहा: 'प्रभु से पूछना कि मेरी मुक्ति में कितनी देर और है?' उस वृद्ध साधु के पास ही एक बरगद के दरख्त के नीचे एक बिल्कुल नव-दिक्षित युवा सन्यासी का आवास भी था। उस देवता ने उस युवा संन्यासी को भी पूछा कि क्या आपको भी प्रभु से अपनी मुक्ति के सम्बन्ध में पूछना है? पर वह संन्यासी कुछ बोला नहीं...वह जैसे एकदम शान्त और शून्य था।

फिर, कुछ समय बाद वह देवता लौटा। उसने वृद्ध तपस्वी को कहा : 'मैंने प्रभु को पूछा था। वे बोले : अभी तीन जन्म और लग जावेंगे !'

वृद्ध तपस्वी ने माला क्रोध में नीचे पटक दी। उसकी आँखें लाल हो गईं। उसने कहा: 'तीन जन्म और ? कैसा अन्याय है ?'

वह देवता बरगद वाले युवा संन्यासी के पास गया। उससे उसने कहा: 'मैंने प्रभु को पूछा था। वे बोले : वह नवदीक्षित साधु जिस वृक्ष के नीचे आवास करता है, उस वृक्ष में जितने पत्ते हैं, उतने ही जन्म उसे और साधना करनी है!'

युवा साधु की आँखें आनन्द से भर गईं और वह उठकर नाचने लगा और उसने कहा:

'तब तो पा ही लिया: जमीनपर कितने वृक्ष हैं और उन वृक्षोंमें कितने पत्ते हैं......यदि इस छोटे से बरगद के दरख्त के पत्तों के बराबर जन्मों में ही वह मिल जावेगा, तो मैंने उसे अभी ही पा लिया है!'

यह भूमिका है जिसमें सत्य की फसल काटी जाती है।

और कथा का अन्त जानते हैं, क्या हुआ ?

वह साधु नाचता रहा......नाचता रहा और उस नृत्य में ही उसी क्षण वह मुक्त होगया और प्रभु को उपलब्ध हो गया। **शान्त और अनन्त प्रेमप्रतीक्षा का वह क्षण ही सब कुछ था। वह क्षण ही मुक्ति है।**

इसे मैं अनन्त प्रतीक्षा कहता हूँ: और जिसकी प्रतीक्षा अनन्त है, उसे सब कुछ अभी और यही उपलब्ध हो जाता है। वह भाव-भूमि ही उपलब्धि है।

क्या आप इतनी प्रतीक्षा करने को तैयार हैं?

मैं इस प्रश्न के साथ ही आपको विदा दे रहा हूँ।

प्रभु सामर्थ्य दे कि आपकी जीवन-सरिता सत्य के सागर तक पहुँच सके......यही मेरी कामना और प्रार्थना है।"